श्रीराजेन्द्रसूरि-जैनग्रन्थमाला-पुष्प २८



पं० श्री जिनहर्षगणि रचित—

श्री गुणानुराग-कुलक।

व्याख्यानवाचस्पति

मुनिराज श्री यतीन्द्रविजयजी-रचित-

संस्कृत-छाया, शब्दार्थ, भावार्थ और

विस्तृतहिन्दी-विवेचन सहित।

प्रकाशक—

शा. भीमाजी छगनलाल-वीसा पोरवाड.

मु० सियाना (मारवाड)

श्री वीर सं २४५४ श्री राजेन्द्रसूरि सं २२	द्वितीय संस्करण ५००	श्री वि० सं० १९८५ सन् १९२८ इस्वी

मूल्य २) रुपया

गुरुपदकज-प्रेमोपहार-

यच्छायास्वपि शीतलासु रिपवः संस्थाय शान्तिङ्गता—
स्ते भव्या इह शर्मभाज अभवन्नाश्रित्य यस्याश्रयम् ।
यस्यालौकिकशक्तिभारवशतश्चिन्तामणिः सत्रपोऽ—
भूत्तस्मै सततं नमो भवतु मे राजेन्द्रसूर्यङ्घ्रये ॥ १ ॥

—जिनकी सुशीतल (ठंडी) छाया में बैठकर धर्मद्वेषी भी शान्ति को प्राप्त हुए, जिनका आश्रय लेकर अनेक भव्योंने अपनी आत्मा का कल्याण किया, और जिनकी अलौकिक शक्ति के वश से चिन्तामणि-रत्न भी लज्जित हुआ; उन श्री राजेन्द्रसूरिजी के चरण-युगलों को मेरा सदा नमस्कार हो ।

यज्ज्ञानांशुसमूहदीप्तिवशतो नष्टञ्च मिथ्यातमो,
दीप्त्या यन्नखरस्य भानुरथ वै चन्द्रस्तथा शङ्कितः ।
यद्भीत्या गतवांस्तु भानुरथ खं वार्धिङ्गतश्चन्द्रमा—
स्तस्मै मे सततं नमोऽस्तुविधिवद् राजेन्द्रसूर्यङ्घ्रये ॥ २ ॥

—जिनके ज्ञानपुञ्ज के तेजःप्रभाव से मिथ्यान्धकार नष्ट हुआ, जिनकी नखद्युति से सूर्य तथा चन्द्र शङ्कित हुए और जिस नख-द्युति से भयभीत होकर सूर्यने आकाश का, तथा चन्द्रमाने समुद्र का आश्रय लिया. उन श्रीराजेन्द्रसूरिजी के चरण-युगल को विधि पूर्वक मेरा सदा नमस्कार हो ।

जैनाभाससुवक्त्ररन्ध्रनिसृताऽसद्भापणार्चिष्षु च,
भस्मीभूतजनाश्च येन वहुधा शान्त्या सदा रक्षिताः ।
शान्त्या पूर्णतया हि ते च कृपया तत्त्वामृतैर्जीविता—
स्तस्मै मे भवतान्नमः प्रतिदिनं राजेन्द्रसूर्यङ्घ्रये ॥ ३ ॥

—जिन्होंने जैनाभासों के मुखकुहर से निकली हुई असद्वचन-रूप ज्वालाओं में भस्म होते हुए अनेक भव्य-प्राणियों की रक्षा की और उनको तत्वश्रद्धारूप अमृत से जीवित किये; श्री राजेन्द्रसूरिजी के चरण-युगलों को हमारा प्रतिदिन नमस्कार हो ।



पाठक महानुभावो !—

संसार में वास्तविक आदर्श–पवित्रात्मा बनने के लिये किन किन शिष्ट–गुणो की आवश्यकता है, और किन पाशविक दुर्गुणो को छोडकर, मनुष्य आदर्श बन जाता है ? इस विषय को स्पष्ट, सरस और सरलता से समझाने के लिये आज यह हिन्दी पुस्तक आपके कर–कमलो में उपस्थित होता है ।

" मनुष्य, मनुष्य तभी से बनता है जब वह दुष्ट–विचार, और कुव्यसनो से अलग हो कर, अपने जीवन की वास्तविक न्याय–परायणता को खोजने का प्रयत्न करने लगता है "

" मनुष्य योग्य, गुणसपन्न और अखडानन्दी तभी बनता है जब वह गुणानुराग का शरण (आश्रय) लेता है । ससार में हरएक मनुष्य की उत्क्रान्ति (उच्चदशा) गुणानुराग की सुन्दर और श्लाघनीय भूमिका में प्रवेश करने से ही होती है ।"

" यह सिद्धान्त सभी को अपने निर्दोष हृदय में अंकित कर लेना चाहिये कि– मनुष्य ही शक्ति, ज्ञान और प्रेम का स्थूल रूप है और अपने भले बुरे विचारो का स्वामी है । वह अपनी उन्नतावस्था की व्यवस्था का स्वतन्त्र अधिकारी है। उसकी निर्बलता या सबलता शुद्धता या अशुद्धता का जुम्मेवार वह खुद है, दूसरा कोई नहीं । उसको वही बदल सकता है, न कि कोई दूसरा । सुख और दु ख उसीने उत्पन्न किये है और वही उनका भोक्ता, या हटानेवाला है । "

" बुराई का प्रतीकार (हटाने का उपाय) बुराई नहीं है किन्तु बुराई भलाई से जीती (हटाई) जाती है। अतएव हर-एक मनुष्य के साथ तुम उतनी ही भलाई करो जितनी कि तुम्हारे साथ बुराई की जाती हो। "

बस, इन्हीं परमर्षी कृत महान् सिद्धान्तों का समर्थन (विवेचन) करनेवाला और उनकी असली वस्तु-स्थिति बत-लानेवाला यह ग्रन्थ है। इसके मूल ग्रंथकार श्रीसोमसुन्दरसूरिजी महाराज के सुशिष्य पं० **श्रीजिनहर्षगणि** माने जाते हैं। उन्होंने इसको प्राकृतभाषामय आर्या छन्दों में रचा है जो अति सरल, सरस और बोधप्रद है।

इसी २८ गाथामय लघु-ग्रन्थ का यह विस्तृत हिन्दी-विवेचन है। इसमें प्रथम मूल गाथा, उसकी संस्कृत-छाया, बाद उसका शब्दार्थ, भावार्थ और विस्तृत-विवेचन रक्खा गया है। विवेचन में मूल ग्रन्थकार के आशय को अनेक युक्ति प्रमाणों से सरल, सरस और रोचक बनाया गया है।

मूल-ग्रन्थ और विस्तृत-विवेचन में किन किन विषयों का समावेश किया गया है, यह इसके प्रारंभ में दिये हुए विषय-निदर्शन को बांचकर जान लेना चाहिये। हमें पूर्ण विश्वास है कि संसार में चाहे जैसा निर्गुणी मनुष्य क्यों न हो, पर वह एक बार इस विवेचन को बांचकर सद्गुणी भलें न बने, परन्तु उसको अपनी भूलों के लिये हार्दिक पश्चात्ताप तो अवश्य ही होगा और पश्चात्ताप के वजह से एक दिन वह सद्गुणी बनने का प्रयत्न करते देख पडेगा।

इसकी पहली आवृत्ति संवत् १९७४ में **शा मोती दलाजी पोरवाड** बागरावाले के तरफ से छप चुकी है जो प्रकाशित होते ही हाथोहाथ चली गई। यह इसका द्वितीय सं-

स्करण है जो सुधारे वधारे के साथ प्रकाशित है। इसको जैनाचार्य **श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी** महाराज के परम-श्रद्धालु **सीयाणा** (मारवाड) निवासी **शा भीमाजी छगनलाल जैन पोरवाडने** खास वितरण करने (भेट देने) के लिये छपवाया है, अतः उन्हों को इस उदारता और ज्ञानभक्ति के लिये हार्दिक धन्यवाद दिया जाता है। ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

विक्रम-सवत् १९८५	**मुनिश्री यतीन्द्रविजय।**
प्रथम श्रावण सुदि ५	मु० **थराद** (उत्तर-गुजरात)

पत्र-सम्पादक, और विद्वानों की सम्मतियाँ--

(१) गुणानुराग-कुलकम्—इसका आकार मध्यम, पृष्ठ-सख्या ३८६ है। टाइप नविक जैन ढग का है। छपाई और कागज अच्छा है, जिल्दनधी है। इस पुस्तक में श्रीजिनहर्षगणी निर्मित २८ आर्यावृत्त प्राकृत-भाषा में हैं। परन्तु मुनिराज श्रीयतीन्द्रविजयजीने उसका विस्तृत विवेचन करके ग्रन्थ का आयतन मूल से कई गुना वढा दिया है। मुनीवरजी ने प्राकृत गाथाओं की संस्कृत-छाया, उसका शब्दार्थ, और भावार्थ भी लिख दिया है। आपका 'विवेचन' नहुत सुन्दर और शिक्षादायक है। **सरस्वती,** पूर्णसख्या २१२, अगस्त सन १९१७

(२) गुणानुरागकुलक-प्राकृत ग्रन्थ के विस्तृत हिन्दी विवेचन को आद्योपान्त मनन करने से मुझे इतनी शान्ति उत्पन्न हुई कि जिसे लेखिनी के द्वारा प्रगट नहीं की जा सक्ती। विवेचन की हिन्दी सरल होने से आवाल-वृद्ध

सभी के समझ में आ सकती है। दर असल में हिन्दी-संसार जिस चीज को चाहता था, इसने उसकी कमीको पूर्ण की है।

ता० १७-५-१६ } पं० शास्त्री-पन्नालाल नागर
मु० रतलाम (मालवा)

(३) × × × विवेचन क्या है ? मानो सद्गुणों का खजाना है। देखने मात्र से इसकी विशालता, सुन्दरता और शुद्धता पर मुग्ध हुए विना नहीं रहा जाता। इसको एक वार वांचने से आत्मा में शान्ति का श्रोत वहने लगता है और दोष-दृष्टि कोशों दूर भग जाती है।

संवत् १९८० } पं० दुर्लभराम शास्त्री।
आसोज सुदि ७ } मु० झाबुवा (मालवा)

(४) + + + पुस्तक का आयतन जितना मनो-रंजक है उससे भी अधिक इसका विवेचन चित्त को शान्ति पहुंचानेवाला है। अवगुण-दृष्टिरूप रोगों को निर्मूल करने के लिये यह पुस्तक एक प्रकार की रामबाण औषधी के सदृश है। इसका जितना वर्णन किया जाय उतना ही कम है।

मु० बनारस सीटी } पं० शिवदत्त, एफ. ए.
ता० २७-५-२०

(५) + + + + + आपका सुन्दर विवेचन किस व्यक्तिगत दोष-दृष्टि को छोडने के लिये प्रेरित नहीं करता। मुझे विश्वास है कि इस हृदयानन्दी विवेचन को वांचनेवाला

मनुष्य अपनी पाशविक-वृत्तियों के लिये एक वार अवश्य लाचार होगा और अपनी दोपी आत्मा को निन्देगा।

संवत् १९८१ | साहित्याचार्य-पं० मथुराप्रसाद-दीक्षित।
चैत्र सुदि २ | मु० रतलाम (माळवा)

(६) गुणानुरागकुलकम् । अशेषसुधीजनमनोरञ्जनाय पटीयासं नीतिमयाऽमृतरसस्पन्दिनममुमवलोकमवलोकमसशयमयमसीमोपकारी भविता समेषा सर्वथा निरवद्योऽयमिति सम्मनुते । व्याकरणतीर्थभूपण-मैथिलो व्रजनानामिश्रः ।

स० १९८५, प्र. श्रा. कृष्णा ५, | मु० धगजरी (दरभंगा)

The book entitled "गुणानुरागकुलक" amply justifies the name which the learned and well-known author has given to it Sweet, lucid and entertaining, it may satisfy the appetite of the young and old alike The author has spared no pains to make the book rich with matter instructive and illustrative

25-7-1928 | S M Kikani
Tharad-Junagadh



विषय-निदर्शन.





पूज्यपाद-प्रात स्मरणीय-व्याख्यानवाचस्पति-

श्रीमान् मुनिराज श्री श्री श्री १००८

श्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज की

आदर्श-जीवन-चर्या.

—⁂—

जिन मानुषों की कीर्त्ति का गौरव अतीव अपार है,
निःस्वार्थ जिनका कार्य इस ससार का उपकार है।
उपदेश जिनके शान्तिकारक है निवारक शोक के,
अनुरक्त उन पर क्यों न हों जो है हितैषी लोक के ॥१॥

जन्म परिचय—

आप प्रतिभासम्पन्न, विचारदक्ष, जैनागम-रहस्यज्ञ और शान्तस्वभाव जैन-मुनि है। आपके व्याख्यान इतने रोचक होते है जिन्हें केवल जैन ही नहीं, जैनेतर लोग भी बडे उत्साह से सुनते है और हार्दिक प्रसन्नता प्रगट करते है। इसीसे आप विद्वानों के द्वारा 'व्याख्यान-वाचस्पति' की उपाधि से सुशोभित किये गये है।

आपका जन्म बुंदेलखंड की प्रसिद्ध राजधानी 'धव-

लपुरे ' में विक्रम संवत् १९४० कार्त्तिक शुक्ला २ के दिन जाइसवाल (ओसवाले) जैन कुलावतंसक काश्यपगोत्रीय रायसाहब सेठ ऋजलालजी की गृहपत्नी चम्पाकुँवर की कूँख से हुआ था। गृहस्थावस्था का नाम आपका रामरत्न था। आपके बडे भाई दुलीचन्द्र, तथा छोटे भाई किशोरीलाल थे, और बडी बहिन गङ्गाकुँवर, तथा छोटी बहिन रमाकुँवर थी। सं० १९५४ आषाढ वदि २ सोमवार के दिन खाचरोद (मालवा) में आपने जैनाचार्य श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के पास लघु दीक्षा, और सं० १९५५ माहसुदि ५ गुरुवार के दिन आहोर (मार-

---

१ गवालियर से उत्तर १८ मील चंबलनदी के बांये किनारे पर यह कसबा बसा हुआ है। इसको तुअर के घराने के राजा धोलनदेवने बसाया है। अकबर की अमलदारी में यह आगरे के सुबे की तरफ था और मोहबतखां वगैरह यहाँ हाकमी करते थे। सं० १८३९ में यह सिंधिया के कबजे में हुआ, फिर अंग्रेजों के कबजे में हुआ। अंग्रेजोंने खेरातासिंह को गोहद के बदले में दे दिया। इसका दूसरा नाम ' धोलपुर ' है। यह देशी राज्य की राजधानी है और इस के नीचे ६६६ गाँव है।

२ ओसवालजाति होने पर भी जाइसवाल गाँव के अधिवासी होने से आप जाइसवाल कहलाये।

३ आप दिगम्बर जैनशास्त्रों के अच्छे ज्ञाता, श्रद्धालु और व्याख्याता थे। आप हमेशा शाम को ८ बजे से ९॥ तक दिगम्बर भाई बहिनों को शास्त्र वांच कर सुनाते थे, इसीसे दिगम्बर जैनो के तरफ से आपको राइसाहब (भाईजी) की उपाधि मिली थी।

वाड) में बृहद्दीचा (बडीदीचा) ली। दीचा के समय आपका नाम यतीन्द्रविजय रक्खा गया।

चातुर्मास—

दीचा के अनन्तर सं० १९५४ रतलाम, १९५५ आहोर, १९५६ शिवगज, १९५७ सियाना, १९५८ आहोर, १९५९ जालोर, १९६० सूरत–सिटी, १९६१ कुकसी, १९६२ खाच-रोद, १९६३ वडनगर, एवं दश चातुर्मास आपने अपने गुरु–महाराज के साथ ही करके गुरुसेवा के साथ साथ व्याक-रण, काव्य, कोश, न्याय, आदि ग्रन्थों का अभ्यास किया और शेषकाल में भी साथ ही रहकर शत्रुञ्जय, गिरनार, केशरिया, अर्बुदाचल, आदि प्राचीन जैनतीर्थों की यात्रा करके अपनी आत्मा को पवित्र की।

संवत् १९६४ रतलाम, १९६८ रतलाम, १९६९ वागरा, १९७० आहोर; ये चार चातुर्मास आपने शान्तमूर्त्ति उपाध्या-यजी श्रीमान् मोहनविजयजी महाराज के साथ में, और सं० १९६५ रतलाम, १९६६ रतलाम, १९७१ जावरा, १९७२ खाचरोद, १९७८ रतलाम, ये पांच चातुर्मास आपने साहित्य-

---

१ जन्म सानूजा (मारवाड) स० १९२२ भाद्रवावदि २ गुरुवार। पिता वद्रीचद, माता–लक्ष्मीवाई और जन्मनाम–मोहन, ज्ञाति–राजगुरु ब्राह्मण पुरोहित। दीक्षा–जावरा (मालवा) स० १९३३ माहसुदि २ गुरुवार। वडीदीक्षा–कुकसी (नीमार) स० १९३९ मगसिर वदि २ सोमवार। पन्यासपद शिवगज (राज-पुताना) स० १९५९ फाल्गुनसुदि २। उपाध्यायपद–राणापुर (मालवा) स० १९६६ पोषसुदि ८ बुधवार, और स्वर्गवास कुकसी (नीमार) में स० १९७७ पौषसुदि ३ बुधवार।

प्रेमी विद्याभूषण श्रीमद्दीपविजयजी (आचार्य-श्रीमद्विजय भूपेन्द्रसूरिजी) महाराज के साथ में किये। इन चातुर्मासों में प्रायः श्रीअभिधान-राजेन्द्र नामक प्राकृत महाकोश का संशोधन किया और इसी कारण एक ही गाँव में चातुर्मास पर भी चातुर्मास करना पडा।

संवत् १९६७ मन्दसोर, १९७३ आहोर, १९७४ सियाना, १९७५ भीनमाल, १९७६ बागरा, १९७७ बागरा, १९७९ निम्बाहेड़ा, १९८० रतलाम, १९८१ बाग, (नीमार), १९८२ कुकसी, १९८३ आकोली, और संवत १९८४ गुडा-बालोतरा; ये बारह चातुर्मास आपने स्वतंत्र किये और इनमें आपने स्व-उपदेशबल से श्रावक श्राविकाओं को उपदेश दे करके सामाजिक और धार्मिक समुन्नति के अनेक कार्य कराये।

मारवाड़देशीय-विहारस्थल—

भीनमाल, खानपुर, भङ्करी, तुआव, बोरटा, मोदरा, धाणसा, रेवतड़ा, पांथेडी, मेंगलवा, भाँडवा-महावीर, सूराणा, सायला, गोल, मांडवला, रमणीया, मांकलेसर, सवानागढ, जसोल, नाकोड़ा-पार्श्वनाथ, बालोतरा, जालोर, थानपुर, साधू, नून, बाकरा, आकोली, बागरा, डूंडसी, सियाना, काणोदर, रायपुरिया, देलंदर, कालिन्द्री, सनवाड़, सिरोडी, मेडा, मीरपुर, सन्दरुट, अनादरा, आबुतीर्थ, खराड़ी, नीतोरा, नांदिया, रोहिडा, धनारी, भावली, अजारी, पिंडवाड़ा, बामनवाड़, ऊंदरा, वीरवाड़ा, सानवाड़ा, सिरोही, गोयली, ऊड, पाड़ीव, जावाल, वलदुट, मंडवारिया, भूतगाँव, मणोरा, लास, भेव, मलाध्र, हरजी, सवरछा, बूडतरा, थांवला, भेंसवाड़ा, लेटा, वाधनवाडी, गोधन, सकराणा, सांबूजा, आहोर, चरली, दयालपुरा, गुडाबालोतरा, अगवरी, वेदाणा, उमेदगढ, तखत-

गढ, सेदरिया, पावटा, आलावो, रोवाडो, लखमावो, मारुंदो, कोरटो, जोगापुरो पोपालियो, उतमण, जोयलो, फतापुरो, पालरी, शिवगंज, ऊदरी, सुमेरपुर, एरनपुर, बीलपुर, बीजापुर, बाली, खिमेल, रानी, राणीस्टेशन, वरकाणा, नाडोल, नाडलाई, खिमाडा, खुलाला, मुडारा, सादडी, राणापुर, घाणेराव, देसुरी, सेवाडी, रातामहावीर, नाडा, बेडा; इत्यादि ।

मेवाडदेशीय–विहार स्थल—

भीलवाडा, पडायली, गडनोर (चार भुजा) राजमगर, कांकरोली नाथद्वारा, देलवाडा, भानपुरा, सायरा, ढोल, गोगुंदा (मोटागांव), थोडगाम, उदयपुर, वानेर, कपासण, भदेर, करेडा–पार्श्वनाथ, निम्बाहेडा, सतखंडा, चितौड, टींडी, परसाद, धुलेवा (केशरियाजी), देंवलगॉव, खेरवाकेम्प, रामपुरा, डूंगरपुर, आन्तरी, धूमडिया, गलियाकोट, ऑंजना, चोरी, गढी, परतापोल, तलवाडिया, वांसवाडा, खांडु, वाजना, सहुगढ, इत्यादि ।

मालवदेशीय–विहार स्थल—

नयागॉव, जावद, पीपलिया, मणासा, कुकडेसर, नारायणगढ, नीमच, नीमचकेम्प, पीपल्या, जामनिया, मल्हारगढ, थडोद, वही–पार्श्वनाथ, सजीत, सितामऊ, धाडियाखेडी, मन्दसोर, अमरानद, फतेगढ, एलची, रेलदलोदा, कचनारा, ढोढर, इगणोद, रोजाणा, मामटखेडा, नरडिया, गुणदी, जावरा, चरडावदा, सरसी, धिनोदा, खाचरोद, सेमलिया, बांगरोद, नामली, सैलाना, रतलाम, घराड, नीलपाख, रूनीझा, पचलाना, मडावदा, धानासुता, खरसोद, चीरोला, मकरावन, उज्जैन, मक्षीपार्श्वनाथ, वडनगर, अमला,

चदनावर, राजोद, खवासा, कडोद, कानून, धामणदा, देशाई, लेडगाँव, राजगढ, सरदारपुर, धार, मांडवगढ, भकणावदा, पटलावद, किसनगढ, थांदला, रंगपुरा, झाबुवा, राणापुर, कुन्दनपुर, गमलां, वोरी, पारां, पीथनपुर, छडावद, मोहन-खेडातीर्थ, रींगनोद, भोपावरतीर्थ, टांडा, बाग, घोडा, रामपुर, कुकसी, नीसरपुर, तालनपुर, नानपुर, खटाली, आलीराजपुर, छोटा उदयपुर, इत्यादि ।

गुजरात-काठियावाड के विहार स्थल-

दाहोद, वलूंदी, पीपलोद, ओरवाडा, गोधरा, डुवा, टिम्बारोड, सेवालिया, अंगाडी, ठासरा, डाकौर, उमरेठ, भालेज, वोरियावी, वरताल, मेलाय, सोजीत्रा, ईसरवाडा, वरसडा, वटामण, वोरु, वोलाद, पीपली, आमली, धोलेरा-बंदर, एवदपर, वेलावदर, रतनपर, वला, (वल्लभी) चमारडी, करदेज, वरतेज, भावनगर, अख-वाडा, गोघाबंदर, तणसा, त्रापज, तलाजा-तीर्थ, देवली, ठासेज, पालीताणा, सिद्धाचल, घेटी, परवडी, चारोडिया, मोटा लीलिया, अमरेली, मोटा-आकडिया, कुकावाव, चूडा, राणपर, वडाल, जूनागढ, गिरनारजी, जेतपुर, गोमटा, गोंडल, वीलियारुं, रीवडा, कोठारियुं, राज-कोट, खोराणा, सिंधावदर, वांकानेर, जाली, लूणसर (री) दाधोडियुं, सरा, कोंढ; जीवा, ध्रांगध्रा, गाला, धरमठ, देह-गाँव, ओडुं, झींझवाडा, धामा, आदरियाणा, शंखेश्वर, मुजपर, हारिजरोड, जमणपर, अडिया, कूणघेर, पाटण सागोडिया, कल्याणा, मेत्राणा, सिद्धपुर, समोडा, लूणवा, वीठोडी, कोदराम, चाणशूल, डभोडा, वरठा, तारंगातीर्थ, टेना, भालुसणा, ऊमरी, नागरमोरिया, दांता-भवानगढ,

कुम्भारिया, अम्बाजी, वीरमगाम, मोयणी, खंभात, सूरत, रादेर, गायरा, सीमचोकी, बोढाण, सोलवण, भगडिया-तीर्थ, डमोई, इत्यादि ।

ग्रन्थमाला—

संवत् १९७८ से आपने श्रीराजेन्द्रसूरि-जैनग्रन्थ माला नामकी ग्रन्थमाला प्रकाशित करना आरम्भ (शुरू) की । इस ग्रन्थमाला के अब तक—१ श्रीकर्मबोध-प्रभाकर, २ राइदेवसिय-प्रतिक्रमण, ३ जन्ममरण-सूतकानिर्णय, ४ स्त्रीशिक्षण-हिन्दी. ५ श्रीपंचप्रतिक्रमण (फुटनोटसहित), ६ राजेन्द्रसूरिगुणाष्टक-संग्रह, ७ राइदेवसियपडिक्कमण (बडे अक्षर), ८ पीतपटाग्रह-मीमांसा और निक्षेपनिबन्ध, ९ संक्षिप्त-जीवनचरित (श्रीधनचन्द्रसूरिजी का), १० अष्टप्रकारीपूजा (श्रीराजेन्द्रसूरिजी की), ११ जीव भेद-निरूपण-हिन्दी, १२ सप्तव्यसन-परिहार, १३ सविधि-साधुपंचप्रतिक्रमणसूत्राणि, १४ श्री जैनरहस्यम्, १५ जिनेन्द्रगुणगानलहरी, १६ जिनगुणमजूषा (चतुर्थ-भाग), १७ उमेद अनुभव (दूसरा, तीसरा संस्करण), १८ जैनर्षिपटनिर्णय, १९ एकसो आठ बोल का थोकडा, २० जैनसुबोध (प्रथम-भाग), २१ अध्ययनचतुष्टय (दशवैकालिकसूत्र के शुरु के चार अध्ययन शब्दार्थ-भावार्थ सह), २२ रत्नाकरपचीसी, (शब्दार्थ-भावार्थ सह), २३ श्रीमोहनजीवनादर्श, २४ नवपदपूजा (श्रीराजेन्द्रसूरिजीकृत), २५श्रीगुरुदेवभजनमाला, २६ देववन्दनमाला (तीसरी आवृत्ति) २७ गुहली-विलास (द्वितीय-भाग), २८ श्रीगुणानुरागकुलकम्-(विस्तृत-विवेचन, शब्दार्थ-भावार्थ और संस्कृत छाया सहित), २९ श्रीयतीन्द्रसेवाफलसुधापान, ३० श्रीगुरुदेव-

गुण-तरंगिणी, ३१ श्री यतीन्द्रविहारादर्श; ये इकतीस पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सभी पुष्प प्रायः मुफ़्त में वितरण किये जाते हैं और प्रत्येक पुष्प अतिसुन्दर शुद्धता पूर्वक प्रकाशित होता है।

ग्रन्थरचना—

आप संस्कृत-प्राकृत भाषा के ज्ञाता होने पर भी हिन्दी के अच्छे सुलेखक हैं। आपके रचित सरस और भावपूर्ण हिन्दी-ग्रन्थों ने अच्छी कदर पाई है। उनकी सरस्वती, माधुरी आदि हिन्दी पत्रिकाओं के सम्पादकों ने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। आपके रचित हिन्दी-ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है—

१ **तीनस्तुति की प्राचीनता**—यह फुलिस्केप् १६ पेजी साइज में एक फार्म की किताब है, जो संवत् १९६३ में श्रीश्वेताम्बराभ्युदयराजेन्द्रजैनलायब्रेरी जावरा के तरफ से छपी है। इस में जैनागमों के और ऐतिहासिक प्रमाण देकर तीनस्तुति की प्राचीनता सिद्ध की गई है। पुस्तक छोटी होने पर भी बडे महत्त्व की है॥

२ **भावनास्वरूप**—आकार सुपररॉयल १६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १६ हैं। मूल्य एक आना है। यह सं० १९६५ में श्रीजैनप्रभाकर प्रिन्टिंग प्रेस-रतलाम में अभिधान-राजेन्द्र-कार्यालय की ओर से छपी है। यह अनित्यादि बारह भावनाओं का अत्यल्प-स्वरूप जानने के लिये अच्छे वैराग्य-रस की पोषक है।

३ **गौतम-पृच्छा**—आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ठ-संख्या २४ हैं। मूल्य दो आना है। सं० १९७१ में जैन-प्रभाकर प्रेस-रतलाम में श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय-जैनसंघ

रतलामवालों के तरफ से मुद्रित। किसी प्राचीन जैनाचार्य कृत ६४ प्राकृत गाथा मय 'गोयमपुच्छा' नामक छोटा सा ग्रन्थ है। उसी के मूल-मात्र का यह हिन्दी-अनुवाद है। संसार में कोई राजा है तो कोई रंक, कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई काणा है तो कोई अंधा, कोई लूला है तो कोई कूनडा और कोई बहिरा है तो कोई मूक। यह सब किन किन कर्मों से उदयागत है। इस बात को समझने के लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। इसकी प्रथमावृत्ति में १०००, द्वितीयावृत्ति में ४००० जासेलगढ के रहनेवाले सेठ सरूपचन्द हकमाजी के तरफ से और तीसरी आवृत्ति में १००० कोपी रतलाम सघ के तरफ से छप चुकी है, इसी से इसकी उपयोगिता का अनुमान किया जा सकता है।

४ श्रीनाकोडा-पार्श्वनाथ—आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५६ है। छपाई और कागज सुन्दर है। यह जैन-प्रभाकरप्रेस-रतलाम में सियाणा निवासी शा० वनेचन्द्र धूपाजी-पूनमचन्द के तरफ से छपी है। जोधपुर रियासत के मालानी परगने में बालोतरा स्टेशन के निकटवर्त्ती नाकोडा-पार्श्वनाथ का प्राचीन तीर्थ है, इसी प्रभावशाली तीर्थ का ऐतिहासिक वृत्तान्त इस पुस्तक में दर्ज है। इतिहास सामग्री के लिये यह पुस्तक उपयोगी है।

५ सत्यबोधभास्कर—आकार डेमी १२ पेजी, पृष्ट संख्या १६२, मूल्य ।≥), टाईप, छपाई और कागज सुन्दर हैं। यह जैन प्रभाकर प्रेस-रतलाम में संवत् १९७१ में बागरा (मारवाड़) के निवासी शा० जवानमल नथमल राजाजी पोरवाड के तरफ से छपी है। इस पुस्तक का दूसरा

नाम प्रतिमामार्गसिद्धि है। स्थानकवासी सम्प्रदाय के लोग मूर्तिपूजा और मूर्तिप्रतिष्ठा के विरुद्ध नाना प्रकार के टेढ़े मेढ़े प्रश्न करते हैं। उन्हीं प्रश्नों के युक्ति-सङ्गत उत्तर इस पुस्तक में हैं। उत्तरों में जिनेन्द्रों की प्रतिमा-प्रतिष्ठा की आवश्यकता और उपयोगिता बताई गई है। इस विषय के सिवाय शास्त्राभ्यास, व्याकरण पढ़ने की आवश्यकता, युक्ति-युक्त प्रश्नोत्तर आदि का विवेचन है। पुस्तक उपादेय और हरएक को संग्रह करने लायक है। सरस्वती, भाग १६, खंड २, सितंबर सन १९१५, संख्या ३, पृष्ठ—संख्या १८०.

६ जीवनप्रभा—आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ४४ है। यह सुन्दर कागज और निर्णयसागर प्रेस-बम्बई में १९७२ के साल, बागरा (मारवाड़) वाले शा० जवानमल चमनाजी, गुलचाजी भूताजी, वरदीचंद नमरथमल पोरवाड़ के तरफसे छपी है। इसमें परम योगिराज जङ्गम युगप्रधान जैनाचार्य श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज का संक्षेप से जीवन-परिचय दिया गया है और आपका जीवन कितना लोकोपकारक था, इसका मानों साङ्गोपाङ्ग फोटू खींच के दिखला दिया गया है। अभिप्राय—

" जीवनप्रभा पुस्तकमद्य मम चक्षुर्गोचरतामध्यगमत्। अतः कार्यान्तराण्यपास्य प्रभूतप्रणयतया तदेवाद्राक्षम्। अदो जीवनचरितमतीवोपयुक्तं विद्यते। अत्रानेके गुणा दृश्यन्ते—आर्यभाषातीवसरला, निरर्थकशब्दाडम्बरविकला, संक्षिप्तसारार्थप्रदर्शिनी चास्ति। शोधनप्रक्रियापि सुसमीचीना। अवश्यमेव मननार्हमदो पुस्तकमस्ति, अमुना जीवनसुधारणा भवितुमर्हति। भवान् आर्यभाषायाः सुलेखकोऽजनिष्ट। एवं लोको-

पकारकान् बहुशो ग्रन्थान् विरचयन् धर्मप्रचारादिकृत्यं चानुतिष्ठन् भवान् सूरीश्वरत्वमधिगन्तुं शक्नोति । एवमस्तु, महती मे मानसप्रसत्तिः । ”

वि स १९७३ आश्विन कृ० ११ } संस्कृत पाठशाला प्रधानाध्यापक
मु० परसपुर (गोंडा) } प० जयदेवशास्त्री ।

७ गुणानुराग-कुलकम्—इसका आकार मध्यम, पृष्ठ-सख्या ४८४ है । टाइप वम्बिक जैन ढग का है । छपाई और कागज अच्छा है, जिल्द बधी है । इसे स० १९७४ में बागरा (मारवाड) निवासी शा० मोती दलाजी पोरवाडने जैन प्रभाकर प्रेस-रतलाम में छपाई है । इस पुस्तक में श्री जिनहर्ष गणी-निर्मित २८ आर्यावृत प्राकृत-भाषा में है । परन्तु मुनिराज श्री यतीन्द्रविजयजीने उसका विस्तृत विवेचन करके ग्रन्थ का आयतन मूल से कई गुना बढ़ा दिया है । मुनिवरजीने प्राकृत-गाथाओं की संस्कृत-छाया, उसका शब्दार्थ और उनका भावार्थ भी लिख दिया है । आपका किया ' विवेचन ' बहुत सुन्दर और शिक्षादायक है । पुस्तक की भूमिका में आपने लिखा है कि-' जो मनुष्य विवेचन-गत सिद्धान्तों के अनुसार अपने चाल-चलन को सुधारेगा वह ससार में आदर्श-पुरुष बन कर अपना और दूसरों का भला कर सकेगा ' । यह निःसन्देह सच है । ” सरस्वती, अगस्त सन् १९१७ पूर्ण संख्या २१२ ।

८ जन्ममरणसूतक-निर्णय—आकार रॉयल १६ पेजी, पृष्ठ-सख्या १६ है । मूल्य एक आना है । इसकी प्रथमावृत्ति श्री अभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और द्वितीयावृत्ति बीजापुर (मारवाड) निवासी सत्तावत-ताराचंद कृपाजी के

तरफ से छप चुकी है। आचार्य श्रीमद् धनचन्द्रसूरिजी महाराज के पास जन्म मरण सम्बन्धी सूतकों का निर्णय करके विस्तृत विवरण सहित यह पुस्तक लिखी गई है, जो सूतक संबंधी झंझटो को मिटाने के लिये महत्व की है।

९ संक्षिप्त-जीवनचरित्र—आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १७६ है। टाइप, कागज और छपाई सुन्दर है। इसे मुफ्त वितरण करने के लिये सं० १९८० में धानेरा (पालनपुर) के श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय जैन संघने जैन प्रभाकर प्रेस-रतलाम में छपवाया है। श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छ की अविच्छिन्नपरम्परा में ६९ वें पाट पर श्रीमद् विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज एक प्रौढ़-प्रतापी आचार्य हुए हैं। इस पुस्तक में उन्हीं की जन्म से लेकर निर्वाण पर्यन्त जीवनचर्या आलेखित है। यह चरित्र केवल कहानी मात्र, या खाली आलङ्कारिक बाह्याडम्बर का पोषक नहीं, किन्तु आचार्यों के खास कर्त्तव्य-कार्यों का समर्थक है।

१० जीवभेद-निरूपण—साइज़ रॉयल १६ पेजी, पृष्ट-संख्या ४८ हैं। टाइप, छपाई और कागज बहुत ही बढियाँ हैं। यह पुस्तक जैनपाठशालाओं के विद्यार्थियों के लिये जीवविचार आदि ग्रन्थों के आधार से तैयार की गई है। इस में कुल १६ पाठ हैं। प्रथम के आठ पाठों में जीवों के भेद प्रभेदों का स्वरूप और पिछले आठ पाठों में उनके शरीरमान, आयु आदि पांच द्वारों का विवरण दिया गया है। इसको सं० १९८० में निम्बाहेडा (टोंक) के रहने वाले दिगम्बरधर्मावलम्बी सेठ जसराजजी पाटोदीने अपनी पत्नी गेन्दीबाई के स्मरणार्थ छपवाया और इसकी ५०० कोपी

साधू (मारवाड) निवासी शा० चेनाजी अमीचद पोरवाडने छपाई है। यह जैनप्रभाकरप्रेस–रतलाम में छपी है।

११ श्रीगौतमकुलक—वसन्ततिलका–वृत्तों में प्राकृत भाषामय २० गाथाओं का किसी प्राचीनाचार्य रचित सुभाषित–शिक्षा ग्रन्थ है। उसीका मूल, शब्दार्थ और भावार्थ इसमें समावेशित है। इसकी प्रत्येक गाथा जैन और जैनेतर सभी को कठस्थ करने योग्य है। इसकी प्रति गाथा में चार चार शिक्षाएँ दर्ज हैं, जिन के धारण करने से मनुष्य अपना बहुत जल्दी सुधारा कर सकता है। यह ग्रन्थ जीवभेदनिरूपण नामक पुस्तक के शामिल ही छपा है।

१२ पीतपटाग्रह–मीमांसा—साइज क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ–सख्या ६२ है। टाइप, छपाइ और कागज अच्छा है। मूल्य पाच आना है। स० १९८० में श्रीयतीन्द्र जैनयुवकमडल–निम्बाहेडा के तरफ से जैन प्रभाकर प्रेस–रतलाम में मुद्रित। यह वही पुस्तक है जिसकी शास्त्रोक्त सुदृढ युक्तियों का खडन करने के लिये शहर रतलाम में चतुर्थस्तुतिक, पीतवस्त्राग्रही अपवादी आचार्य सागरानन्दसूरिजी ने नौ महीने तक हेन्डबिलबाजी खेली, अपने अन्धभक्तों को शिखा कर हुल्लड भी मचाया और इतस्ततः दौडा दौड भी लगाई। परन्तु आखिर वे किसी प्रकार से सफलमनोरथ नहीं हुए। पीतवस्त्रधारी साधुओं की कुयुक्तियों को निर्मूल करने और उनकी पोलों को खोलने के लिए एक यही पुस्तक काफी है।

१३ निक्षेप–निबन्ध—यह निबन्ध जैनशासन साप्ताहिक पत्र के दीवाली के खास अक के लिये उसके सम्पादक हर्षचन्द्र भूराभाई की प्रेरणा से लिखा गया था, जोकि जैन-

शासन दीवाली के खास अंक में ही प्रकाशित है। अब यह पीतपटाग्रह–मीमांसा के शामिल ही पुस्तकरूप से मुद्रित हो चुका है। इसमें निक्षेपों का स्वरूप बडी खूबी के साथ समझाया गया है।

१४ जिनेन्द्रगुणगानलहरी—आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ–संख्या १२० हैं। छपाई, सफाई, टाइप और कागज सुन्दर हैं। जिल्द बंधी हुई है। यह जैन प्रभाकर प्रेस–रतलाम में १९८० के साल आहोर (मारवाड) के शा० रतना भूताजी, मूता नथमल चुन्नीलालजी और हेमाजी पन्नाजी ओसवाल के तरफ से जाहिर हुई है। इसमें विश्वपूज्य चोवीस तीर्थङ्कर भगवन्तों के चैत्यवन्दन ८८, स्तुतियाँ २२, स्तवन ७०, गुरुगुणगर्भित–स्तवन ११, और गुंहलियाँ ५ संदर्भित हैं। जिनगुणगान और गुरुकीर्त्तन के लिये यह पुस्तक अति उपयोगी है।

१५ जैनर्षिपट–निर्णय—साइज क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ–संख्या ५२ हैं। इसकी छपाई और कागज बहुत बढियाँ हैं। यह आनन्द प्रिंटिंग प्रेस–भावनगर में १९८१ के साल, नीसरपुर (नीमार) निवासी ओसवाल सोभागमलजी धन्नालाल सुराणा की गृहपत्नी भूरीबाई के तरफ से छपी है। भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के सर्वमान्य शासन को मान्य रखनेवाले साधु और साध्वियों के लिये शास्त्रानुसार श्वेत, मानोपेत, और जीर्णप्राय अल्पमूल्य वस्त्र ही धारण करना चाहिये, रंगीन नहीं। इसी विषय को सुदृढ बनानेके लिये इसमें जैनागम और प्रामाणिक–बहुश्रुताचार्यों के रचित ग्रन्थ–रत्नों के ५१ प्रमाण–पाठ मय हिन्दी भावार्थ के दिये गये हैं।

१६ रत्नाकर-पचीसी—साइज रॉयल १६ पेजी, पृष्ठ-सख्या २४ हैं। यह जैन प्रभाकर प्रेस-रतलाम में १९८२ के साल कुकसी (धार) के रहने वाले पोरवाड जवरचंद बूदरजी के सुपुत्र जुहारमल के तरफ से मुद्रित है। श्री रत्नाकरसूरि रचित वसन्ततिलका-वृत्तों में २५ सस्कृत श्लोकों का यह प्रभु प्रार्थना मय स्तोत्र है। उसीका यह शब्दार्थ-भावार्थ मय हिन्दी अनुवाद है, जो प्रभुप्रतिमा के सामने प्रार्थना करने के लिये बहुत ही अच्छा और कंठस्थ करने योग्य है।

१७ श्रीमोहनजीवनादर्श-आकार क्राऊन १६ पेजी पृष्ठ-सख्या ५६ है। इसको मुफ्त वितरण करने के लिये जैन प्रभाकर प्रेस-रतलाम में १९८२ के साल आलीराजपुर-निवासी श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय जैन सघने छपाया है। इसमें शान्तमूर्त्ति उपाध्यायजी श्रीमोहनविजयजी महाराज की जीवनी हुबोहुब दिखलाई गई है और इसके पढने से स्थान स्थान पर अच्छी शिक्षाएँ मिलती है।

१८ अध्ययनचतुष्टय-आकार क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ८२ है। छपाई सफाई, टाइप और कागज सुन्दर है। इसको आनन्द प्रेस-भावनगर में स० १९८२ के साल राजगढ (मालवा) की रहनेवाली रायसाहब पन्नालालजी खजानची की पत्नी माणकवाईने छपवाया है। साध्वाचार विषयक श्रीदशवैकालिक नामक सूत्र है, जो श्रुतकेवली श्रीशय्यम्भवसूरिजी का बनाया हुआ और ४५ जैनागमों में से एक है। यह उसीके शुरूआत के चार अध्ययन है। इसमें प्रथम मूल, बाद में उसका शब्दार्थ और भावार्थ सन्दर्भित है। अनुवाद इतना सरल और सरस है कि सूत्र के मर्म को

समझने में तनिक भी सन्दिग्धता नहीं रहती। बडी दीक्षा के उत्साही साधु साध्वियों को यह पुस्तक कंठस्थ करने लायक है।

१९ लघुचाणक्यनीति-अनुवाद-आकार डेमी १२ पेजी. पृष्ठ संख्या ६४ हैं। छपाई, टाइप और कागज सुन्दर है। इसकी तीन आवृत्ति निकल चुकी हैं-पहली वार में १००० कोपी बागरा (मारवाड) निवासी शा० चमना हकमाजी, दूसरी वार में १००० कोपी भिंडी बजार मारवाडी वेपारी-मंडल-बम्बई, और तीसरी वार में १००० कोपी सं० १९८१ में फूंगणी (सिरोही) के रहने वाले शा० जेताजी जेसाजी के तरफ से छपी है। चाणक्यमंत्रीरचित बृहच्चाणक्यनीति से सार सार सुभाषित श्लोक उद्धृत करके किसी यतिमहाशयने आठ अध्यायवाला लघुचाणक्यनीति बनाया है। मुनिवरजीने इसीका सरल हिन्दी में अनुवाद किया है। इसका प्रत्येक श्लोक जैन और जैनेतर सभी को कंठाग्र करने योग्य है।

२० कुलिंगिवदनोद्गार-मीमांसा-साइज क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ संख्या ७४ हैं। टाइप, छपाई और कागज उत्तम है। आनन्द प्रेस-भावनगर में सं० १९८२ में मुद्रित, प्रकाशक-के. आर. ओसवाल, जावरा, (मालवा). आगमोदयसमिति के नियन्ता महानुभाव सागरानन्दसूरिजी ने अपनी योग्यता का परिचय दिखलानेवाली एक यतीन्द्रमुखचपेटिका नामकी छोटी पुस्तक जाहिर की है। उसी का इस में अकाट्य युक्ति और प्रमाणों से सभ्यता पूर्वक उत्तर दिया गया है। इसी पुस्तक से घबरा कर महाशय सागरानन्दसूरि विना शास्त्रार्थ किये ही पांचवीं वार भी मारवाड से पलायन कर गये।

२१ ऐतिहासिक–दृश्य—यह एक निबन्ध है जो विहार करने वाले साधु साध्वियों के लिये अत्युपयोगी है। इस जीवन–रेखा के नायक श्रीमान्‌ने साडे पांचसौ कोश की लम्बी मुसाफरी (पैदल–विहार) करके जो प्राचीन–अर्वाचीन जैन तीर्थों की यात्रा की, उसी के दरमियान आये हुए रास्ते के छोटे बडे गाँवों का जरूरत पूरता ऐतिहासिक वृत्तान्त इस दृश्य में सन्दर्भित है।

योगिकक्रिया, और दीक्षादान—

महाराज श्रीमद् विजयधनचन्द्रसूरिजी की आज्ञा से आपने कमलश्री १, सुमताश्री २, सोहनश्री ३, फूलश्री ४, गुलावश्री ५, मगनश्री ६, हेतश्री ७, ज्ञानश्री ८, क्षमाश्री ९, धनश्री १०, धर्मश्री ११, दयाश्री १२, चन्दनश्री १३, देवश्री १४, इन चौदह साध्वियों को वड़ी दीक्षा सम्बन्धि योग–क्रिया कराई। इनके अलावा आहोरवाली वाई ऊजी, बीजापुरवाली वाई केसी, हरजी वाली वाई मझी, रींगनोदवाली वाई लूणी, टांडावाली वाई झम्मु और राजगढवाली वाई मिश्री, इन छः श्राविकाओं को लघु–दीक्षा आपहीने दी है और अनुक्रम से उनके चन्दनश्री, चिमनश्री, पुण्यश्री, विमलश्री, चेतनश्री और चतुरश्री नाम कायम किये हैं।

प्रतिष्ठाञ्जनशलाका—

झाबुवा रियासत के गॉव बोरीमें संवत् १९६१ फागुण वदि ५ के दिन सौधशिखरी जिनमंदिर की, जावरा रियासत के गाव गुणदी में सं० १९६१ मार्गशीर्ष शुक्ला २ के रोज मूलनायक श्री शान्तिनाथ भगवान् की, मन्दसोर परगने

के गांव एलची में सं० १९६५ पौष सुदि ११ के दिन श्री पार्श्वनाथ भगवान् की, जावरा रियासत के गांव मामटखेड़ा में सं० १९६७ वैशाख सुदि ३ के दिन श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की, सिरोही रियासत के गांव सिरोडी में सं० १९७२ ज्येष्ठ सुदि १ गुरुवार के दिन श्री पार्श्वनाथ और वंमनवाड़ (महावीर) मन्दिर के सुवर्णदंडध्वज-कलश की, जावरा स्टेट के गांव संजीत में सं० १९७८ मगसिर सुदि ६ के दिन भगवान् श्री चिन्तामणि-पार्श्वनाथ स्वामी की, गवालियर रियासत के गांव रींगनोद में सं० १९८१ वैशाख सुदि ५ भृगुवार के दिन भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी की, झाबुवा स्टेट के गांव झकणावदा में सं० १९८१ वैशाख सुदि ११ के दिन भगवान्[२] श्री आदिनाथ स्वामी की, धार रियासत के गांव कुकसी में सं० १९८२ ज्येष्ठ सुदि ९ सोमवार के दिन भगवान्[३] श्री सीमन्धर स्वामी और गुरु मूर्त्तियों की, धार स्टेट के गांव नानपुर में सं० १९८२ आषाढ सुदि १० मंगलवार के दिन भगवान् श्रीपार्श्वनाथस्वामी आदि नौ मूर्त्तियों की, और गवालियर स्टेट के राजगढ़ कसबे से २ मील के फासले पर

---

१ इसी मुहूर्त्त में आदिनाथ दादा के चरण-पादुका की अंजनशलाका की जो पार्श्वनाथ के मुख मंडप में स्थापित है।

२ मूलनायकजी के आसपास की श्री शीतलनाथ और श्री अनन्तनाथ स्वामी की मूर्त्ति की अंजनशलाका की।

३ युगमन्धर स्वामी, बाहु स्वामी, पार्श्वनाथ स्वामी, गौतम स्वामी, पार्श्वनाथ, और जैनाचार्य श्री विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी की दो मूर्त्तियों के सहित।

४ राजेन्द्र-भवनमें व्याख्यानालयके अन्दर चुन्नीलालजी

स्थित पवित्र तीर्थ मोहनखेडा में संवत् १९८२ मगसिर सुदि १० बुधवार के दिन जैनाचार्य श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज की हुबोहुब भव्य-मूर्त्ति की; एवं शास्त्रानुसारी विधि से आपने ग्यारह प्रतिष्ठाएँ भारी समारोह के साथ की है।

पीताम्बरविजेता की उपाधि—

बारह आचार्यों के आचार्य कहलाने का अखर्व-गर्व धारण करनेवाले आगमोदयसमिति के उत्पादक सागरानन्दसूरि को शास्त्रार्थ में पराजित करने (हराने) वाला जैन साधुओं में यदि कोई है तो एक आप ही है। संवत् १९८० पोषसुदि १३ को आपके साथ श्वेतपीतवस्त्र-विषयक चौथी वार भी शास्त्रार्थ करते हुए, शहर-रतलाम से सागरानन्दसूरि को पराजित होकर रात्रि को भग जाना पडा, और सं० १९८३ में पांचवी मर्त्तबा भी शास्त्रार्थ कर लेने के लिये तारीख १९-१२-२६ के रोज आपके तरफ से दिये हुए मुद्रित चेलेंज को पाते ही मारवाड देश को छोड कर भी सागरानंदसूरि को पलायन कर जाना पडा। इसी विजय के उपलक्ष्य में आपको जैनेतर-विद्वान् और मालवदेशीय-जैनसघने " पीताम्बरविजेता " की उपाधि प्रदान की है।

मंडलादि स्थापन—

जावरा (मालवा) में ' श्रीराजेन्द्रोदयजैनयुवकमंडल,। संजीत (जावरा) में ' श्रीयतीन्द्रजैनपाठशाला ' निम्बाहेडा (टोंक) में ' श्रीयतीन्द्रजैनयुवकमंडल ' और सियाणा

खजानची की बनवाई हुई आरस पाषाण की छत्री में स्थापित श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज के चरण पादुका की संवत् १९८२ मगशिर सुदि पूर्णिमा के रोज अंजनशलाका की।

(मारवाड) में 'श्रीराजेन्द्रजैनशिक्षाप्रचारकमंडल;' आपके ही उपदेश से स्थापित हुए हैं और वे अच्छी स्थिति में चल रहे हैं।

आप नवीन पुस्तकों को वांचने के बडे उत्सुक हैं, चाहे वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, या गुजराती भाषा के ही क्यों न हों, एक वार अवश्य उनको आद्योपान्त मनन करते हैं। आपके संस्थापित श्रीयतीन्द्रजैनसरस्वती-भण्डार में जैन और जैनेतरों के अनेक ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है।

शिष्य-संपद्—

आपके कर-कमलों से सात महानुभावों को दीक्षा दी गई, परन्तु वर्त्तमान में उनमें से मुनिवल्लभविजय मुनिविद्याविजय, मुनिसागरानन्दविजय और मुनि विवेकविजय, ये चार शिष्य विद्यमान (मौजूदा) हैं। इनकी वडी दीक्षा भी आप ही के कर-कमलों से शास्त्रीय-विधि अनुसार हुई हैं। वस अव अन्त में इतना और भी लिख कर कि 'आप सत्यवक्ता निस्पृही, शान्तस्वभावी, परोपकारी, समाजहितचिन्तक, साधुधर्मकर्मठ और दीर्घदर्शी हैं। इसलिये आपकी जीवन रेखा जितनी लिखी जाय उतनी ही कम है।' यह जीवन-रेखा समाप्त की जाती है।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः ! ! शान्तिः ! ! !

निम्बाहेडा (टोंक) } श्रावक-कुन्दनमल डांगी।
सं० १९८३ गुरुसप्तमी } सेक्रेटरी-श्रीयतीन्द्रजैनयुवकमंडल।



प्रथमं श्रीयतीन्द्रविजयाष्टकम् ।

यस्यास्ये शरदिन्दुसुन्दरतरे वाणी नरीनृत्यते,
वादीन्द्रानपि सङ्गतानधिसभं युक्त्या जयन्ती क्षणात् ।
विद्वद्वृन्दमनःसुतोपजननी संछेदिनी संशयान्,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् १

द्राक्षापाकसमानतामुपगता यद्देशनाऽत्यद्भुता,
वर्षन्ती वचनामृतं सुमधुरं धर्म्यं पयोवाहवत् ।
सद्युक्तिः श्रुतिसेविताऽपरिमिता पापापहारक्षमा,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् २

सर्वाङ्गे कमनीयतां विदधतं सौन्दर्यरत्नाकरं,
भास्वन्तं गुरुवर्चसा सुयशसा प्रद्योतिताशं परम् ।
साक्षात्काममिवापरं विजयिनं लोकानुकम्पाकरं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् ३

यावज्जीवसुसंयमव्रतपरं पद्शास्त्रचर्चाकरं,
श्रामण्याऽखिलसद्गुणातुलमहारत्नश्रिया मण्डितम् ।
निर्धूताखिलकर्मसन्ततिममुं वैज्ञानिकानां वरं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् ४

क्षान्तिर्यस्य महीयसी भुवितले विभ्राजते शाश्वती,
हेतौ सत्यपि जायते नहि मनाक् कोपोद्भवो जातुचित् ।
धन्यं धन्यजनैः प्रशस्यमतुलं सत्कीर्त्तिमन्तं विभुं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् ५

१–क्रियान्वयतात्पर्येण षष्ठ्या साधुत्वम्, धात्वर्थान्वयतात्पर्येण द्वितीया साधीयसि, इति विवेकः ।

धैर्यं यत्र वरीवृतीति सततं लोकोत्तरं सद्गुरौ,
चित्तक्षोभकरेषु सत्स्वपि मनो नायाति चाञ्चल्यताम् ।
ध्यानारूढमना विपश्यति सदा स्वात्मानमेवाचलं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् ६

विश्वेषामतिमण्डनं सुमनसां चित्ताम्बुजोल्लासनं,
भव्याभव्यजनप्रबोधपटुतोद्भूताच्छकीर्त्तिव्रजम् ।
दीनानाथजनोपकारकुशलं व्याख्यानवाचस्पतिं,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् ७

भास्वद्भासुरसद्गुणाकरजगत्पूज्यमानस्फुर,
च्छ्रीमद्गौरवपादपद्मयुगलध्यानप्रसन्नात्मनाम् ।
युक्त्या खण्डयतामनल्पकुधियां वाचः सभायां विदां,
विद्याढ्यं तमुपास्महे सविजयं श्रीमद्यतीन्द्राभिधम् ८

श्रीमद्यतीन्द्रविजयप्रभुसद्गुरूणां,
स्याद्वादपद्मपरिबोधनभास्कराणाम् ।
विद्याविवेकवरशिष्यगणैः प्रणुन्न-
श्चक्रेऽष्टकं श्रुतिसुखं व्रजनाथमिश्रः ॥ ९ ॥

पं० व्रजनाथमिश्र-शास्त्री ।

द्वितीयं श्रीयतीन्द्रविजयाष्टकम् ।

यतीनां राजानो जिनरचितमार्गानुसरणाः,
कृपापारावारा जिनसमुदयावाप्तिविषयाः ।
विजेतारः पीताम्बरधरमुनीनां सुमहसा,
स्वतंत्रा जीयासुर्गणधरमनीषा इव पराः ॥ १ ॥

श्रीमान् धर्म्मधुरन्धरो धृतियुतो विद्वज्जनैस्सेवितो,
निर्दर्पः सुनिनायको गणधरो विख्यातकीर्त्तिः चितौ ।
श्राद्धाना प्रियकारकोऽस्ति महतां विद्यानिधेर्वारिधिः
दीव्याच्छ्रीमुनिराजराजमुकुटो श्रीमान् यतीन्द्रो मुनिः ॥ २ ॥

व्याख्यानवाचस्पतिरेव धीरः,
गम्भीरतावार्धिरिवापरश्च ।
राद्धान्ततत्त्वार्थनिपन्नमेधो,
जीयाद् मुनीन्द्र प्रवरो यतीन्द्रः ॥ ३ ॥

राजेन्द्रसूरीश्वर एव विद्वान्,
गुरुर्दयालुः परमार्थबुद्धिः ।
आराधितो येन मुनीश्वरेण,
भक्त्या महत्या परित्यक्तकाम ॥ ४ ॥

ज्ञाने परः कोविदहेमचन्द्रः,
उदारचेता महनीयकीर्त्तिः ।
गृहीतकार्य न जहाति कामं,
उद्योगशाली जयताद् यतीन्द्रः ॥ ५ ॥

आह्लादने चन्द्रमसो हि शोभा,
धत्ते कृपालुर्जनतापहर्त्ता ।
समाधिनिष्ठः पुरुषार्थहस्तः,
गुरोः कृपातो जयताद् यतीन्द्रः ॥ ६ ॥

कार्यान्तगः शिक्षणपारदृश्वा,
गुरोश्च वाक्यानि वहत्यजस्रम् ।
क्रोधादिजेता जगदद्वितीय-
धाराप्रवाही वचने यतीन्द्रः ॥ ७ ॥

गृहीतविद्याविजयः सुशिष्यः,
समस्तलोकोपकरिष्णुरेषः ।
मासान् हि वेदान् गमयन् हि कुर्वन्,
सुखेन तस्थौ मुनिराट् यतीन्द्रः ॥ ८ ॥

इदं हि पद्यमष्टकं कृतं मयाल्पबुद्धिना,
विशोध्य मूलतस्ततो गुणान् विभाव्य सन्ततम् ।
पठन्तु पण्डिता जनाः क्षमन्तु नान्यपूजितान्,
व्रजन्तु सज्जनाः सुखं सुखालयं स्वकर्मणा ॥ ९ ॥

ता० २५-१०-२५ — पं० पन्नालाल शास्त्री-नागर ।
रतलाम (मालवा)



पं०-श्रीजिनहर्षगणिवर्य्य-विरचितं—

श्रीगुणानुरागकुलकम् ।

स्मरणं यस्य सत्त्वानां, तीव्रपापौघशान्तये ।
उत्कृष्टगुणरूपाय, तस्मै श्रीशान्तये नमः ॥ १ ॥

उद्देश्य—

अति दुष्प्राप्य मनुष्य जीवन को सफल करने के लिये सब से पहले सद्गुणों पर अनुराग रखने की आवश्यकता है, गुणानुराग हृदय क्षेत्र को शुद्ध करने की महोत्तम वस्तु है। गुणों पर प्रमोद होने के पश्चात् ही सब गुण प्राप्त होते हैं, और सब प्रकार से योग्यता बढती है। इस लिये मद, मात्सर्य, वैर, विरोध, परापवाद, कषाय, आदि को छोड कर मैत्री, प्रमोद, करुणा, माध्यस्थ्य, और अनित्यादि भावनाओं को धारण कर–परगुण ग्रहण करना तथा गुणानुराग रखना चाहिये, क्यों कि–इसके विना इतर गुणों का परिपूर्ण असर नहीं हो सकता। अत

एव इस ग्रन्थ का उद्देश्य यही है कि–हर एक मनुष्य गुणानुरागी बनें, और दोषों को छोडें, इसी विषय को ग्रन्थकार आदि से अन्त तक पुष्ट करेंगे और गुणानुराग का महत्त्व दिखलावेंगे।

मङ्गलाचरण—

सयलकल्लाण–निलयं, नमिऊणं तित्थनाहपयकमलं।
परगुणगहण–सरूवं, भणामि सोहग्गसिरिजणयं ॥१॥

सकलकल्याण–निलयं, नत्वा तीर्थनाथपदकमलम्।
परगुणग्रहणस्वरूपं, भणामि सौभाग्यश्रीजनकम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—(सयलकल्लाण–निलयं) समस्त कल्याण–मंगलकारक शुभ साधनों के स्थान=आ-श्रय रूप (तित्थनाहपयक मलं) तीर्थनाथ=जिनेन्द्रभगवान के चरण कमल को (नमिऊणं) नमस्कार कर (सोहग्गसिरिजणयं) सौभाग्य रूप लक्ष्मी को पैदा करने वाला (परगुणगहणसरूवं) परगुण ग्रहण करने का स्वरूप (भणामि) कहता हूँ।

भावार्थ—समस्त गुणनिधी और कल्याणों के स्थान जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलों को त्रिधा भक्ति से नमस्कार कर के परगुण ग्रहण करने का स्वरूप कहा जाता है।

विवेचन—इस संसार में जिनपुरुषोने सव दोषों को अलग कर उत्तम गुणो को संग्रह किये हैं; वे सव के पूज्य माने जा सकते है, और वेही सव सुखो के आश्रय रूप वनते हैं।

साधु साध्वी, श्रावक, और श्राविका रूप संघ के जो संस्थापक हो वे तीर्थनाथ कहे जाते हैं। जिन्होंने अष्टकर्म रूप शत्रुओं के उन्माद से उत्पन्न होनेवाले अठारह दोषों को छोड़कर अनुपम अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य संपादन किया है, वे श्रीतीर्थनाथ भगवान् इस भूमंडल में संपूर्ण गुणनिधी है।

यह वात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि–जिन में राग द्वेष का अकुरोद्भव नही है, वे पुरुष सदोष मार्ग कभी नहीं वता सकते। वे तो ऐसा निर्दोष मार्ग ही वतावेंगे जो कि सत्य गुण–संपन्न होने से किसी जगह स्खलना को प्राप्त नहीं होगा; क्योंकि–जो पुरुष स्वयं कुसग से वचकर सर्वत्र निस्पृह हो, और सद्‌गुणमय शुद्धमार्ग पर दृढ रहता हो, वह सव को वैसा ही शुद्ध मार्ग वतलाता है, जिसके आचरण करने मे अनेक भव्यवर्ग गुणवान् हो उत्तम योग्यता को प्राप्त करते है।

वस्तुतः राग-द्वेष रहित करुणाशाली महोत्तम पुरुष ही संसार में पूज्य पद के योग्य हैं और ऐसे पुरुषोत्तमों का वन्दन पूजन मनुष्यों को अवश्य गुणानुरागी बनाकर योग्यता पर पहुँचा सकता है। सकल कल्याण के स्थान जिनेन्द्र भगवंतों के चरण कमल में नमस्कार करने से अपने हृदय में सद्गुण की प्रतिभा प्रकाशित होती है। जिसके बल से गुणनिधान हो, सेवक ही सेव्य पद की योग्यता को अवलंबन करता है। कहा भी है कि—

इक्को वि नमुक्कारो, जिणवर-वसहस्स वद्धमाणस्स।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ १ ॥

भावार्थ-सामान्य केवलज्ञानियों में वृषभ समान (तीर्थङ्कर नाम कर्म के उदय से श्रेष्ठ) श्री वर्द्धमानस्वामी के प्रति बहुत नमस्कार तो क्या ? किन्तु शुद्धभाव और अनुराग रख कर श्रद्धापूर्वक एक वार भी जो स्त्री अथवा पुरुष नमस्कार करता है, तो उससे वह संसारसमुद्र से तर (पार हो) जाता है। तथा सर्वगुणसंपन्न जिनेश्वरों की सेवा भक्ति से ही मनुष्यों में सद्गुण प्रकट होते हैं, और उत्तमता प्राप्त होती है।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि-परमेश्वर

विद्यमान नहीं हैं; फिर उनके चरणकमलों में नमस्कार किस प्रकार किया जा सकता है ?

इसके उत्तर मे श्री जिनवल्लभसूरिजी महाराज ने लिखा है कि--

तुममच्छिहिं न दीससि, नाराहिज्जसि पभूयपूयाहिं ।
किं तु गुरुभत्तिएणं, सुवयणपरिपालणेणं च ॥ १ ॥

भावार्थ–हे परमेश्वर ! आप नेत्रो से नही दीख शकते, और अनेक पूजाओ से भी आपकी आराधना नही हो सकती, किन्तु प्रभूत भक्ति (आन्तरिक श्रद्धा) से आपके यथार्थ दर्शन होते है और आपके सुवचन परिपालन (आज्ञानुसार वर्त्तने) से आराधना भी भले प्रकार हो सकती है।

अतएव आन्तरिक श्रद्धा से सिद्धान्तोक्त परमेश्वर की आज्ञाओं का पालन करना चाहिये। क्यो कि–परमेश्वर के प्ररूपित जो शास्त्र हैं, वे परमेश्वर की वाणी स्वरूप ही हैं। इससे उन शास्त्रो में जो जो धार्मिक आलम्बन वतलाये है, वे आचरण करने के योग्य ही हैं। जैनागमों में स्पष्ट लिखा है कि–चार निक्षेप के विना कोई भी वस्तु नहीं है, इस लिये परमेश्वर भी चार निक्षेपसंपन्न

है। अत एव स्थापना-निक्षेप के अन्तर्गत परमेश्वर की तदाकार मूर्त्ति भी परमेश्वर के समान ही है। जिस प्रकार परमेश्वर सब प्राणियों के हितकर्त्ता हैं उसी तरह उनकी प्रतिमा (मूर्त्ति) भी अक्षय-सुख--दायिका है। शास्त्रकारोंने चारों निक्षेपों को समान माना है, उनमें एक को मानना, और दूसरे को नहीं मानना मिथ्यात्व है। जिस तरह अलंकार सहित निर्जीव स्त्रियों का चित्र मनुष्यों के हृदय में विकार पैदा करता है, उसी प्रकार शान्त स्वरूप परमेश्वर की मूर्त्ति मनुष्यमात्र के हृदय-भवन में वैराग्यवासना पैदा कर देती है, और भले प्रकार वंदन पूजन करने से संपूर्ण गुणवान् वना देती है। मूर्त्ति का अवलंवन शास्त्रोक्त होने से, उसका सेवन व नमस्कार करना योग्य है। वास्तव में उपचरित-नयानुसार परमेश्वर के विद्यमान न रहते भी उनकी तदाकार प्रशान्तस्वरूप मूर्त्ति को परमेश्वर के समान ही मानना निर्दोष मालूम होता है। इससे उनकी वन्दन-पूजन--रूप आज्ञा के आराधन करने से मानसिक भावना शुद्ध होती है, और शुद्ध भावना से शुभ फल प्राप्त होता है।

शास्त्रकारों ने ध्यान के विषय में लिखा है कि-

वीतराग भगवान् या उपचार से उनकी तदाकार प्रतिमा का ध्यान करने से आत्मा वीतराग बनता है, और सरागी का ध्यान करने से सरागी बनता है। क्यों कि–' यथा सङ्गो तथा रङ्गः ' जैसा सङ्ग (आलम्वन) प्राप्त होता है, वैसा ही आत्मीय भाव उठता है और उसीके अनुसार उसका आचरण या स्वभाव वना रहता है। अत एव परमेश्वर की वन्दन पूजन रूप आज्ञा को आराधन करने वाला पुरुष तीर्थनाथ के पद को प्राप्त करता ही है। कहा भी है कि—

वीतरागं स्मरन् योगी, वीतरागत्वमश्नुते।
ईलिका भ्रमरी भीता, ध्यायन्ती भ्रमरी यथा ॥१॥

जिस प्रकार भ्रमरी से डरती हुई ईलिका, भ्रमरी के ध्यान करने से भ्रमरी के समान वन जाती है; उसी प्रकार यह आत्मा वीतराग (तीर्थनाथ) का ध्यान करता हुआ वीतराग पद को धारण करता है। इससे हितेच्छु पुरुषों को परहित-रत, मोक्षमार्ग दाता, इन्द्रों से पूजित, त्रिभुवन-जनहितवाञ्छक और सामान्य केवल–ज्ञानियों के नायक तीर्थनाथ का वन्दन पूजन अवश्य करना चाहिये। क्योकि–सव उत्तम मङ्गलों का मुख्य

कारण एक आज्ञापूर्वक तीर्थनाथ के चरणयुगल का वन्दन पूजन ही है।

नमस्कार करने का मुख्य हेतु यह है कि-निर्विघ्न ग्रन्थसमाप्ति और सर्वत्र शान्ति प्रचार हो अर्थात् 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इस उक्ति की निरर्थकता हो, किन्तु यह बात तभी हो सकती है कि-जब आज्ञा की आराधना पूर्वक भाव नमन, या पूजन किया गया हो।

सब श्रेयकार्यों की साधिका एक जिनाज्ञा ही है, क्योंकि शास्त्रों में जगह जगह पर 'आणा-मूलो धम्मो' यह निर्विवाद वचन लिखा है। अतएव-इसके पालन से गुणानुराग का बीज आरोपित होता है, और मात्सर्य आदि दोषों को छोडने से वह बीज वृद्धि को प्राप्त होता है।

केवल द्रव्यनमस्कार ही से आत्महित और सद्गुण प्राप्त नहीं होते ?, किन्तु भाव नमन से होते हैं। भाव नमन (नमस्कार) जिनेद्रों की यथार्थ आज्ञा पालन करना ही है।

अत एव जिनाज्ञा पूर्वक भाव नमस्कार कर ग्रन्थकर्त्ता श्रीमान् पं०-श्री जिनहर्षगणिजी महाराज

दूसरों के सद्गुण ग्रहण करना, अथवा उन पर अनुराग-मानसिक प्रेम रखना, इस विषय का उपदेश देते हैं, और साथ साथ गुणानुराग का महत्त्व और उसके प्रभाव से जो कुछ गुण प्राप्त होते हैं उनको भी दिखलाते हैं।

संसार मे जितनी पदवियाँ हैं, वे सब गुणानुराग रखने से ही प्राप्त होती हैं:—

उत्तमगुणाणुराओ, निवसइ हियए तु जस्स पुरिसस्स।
आ-तित्थयरपयाओ, न दुल्लहा तस्स रिद्धीओ ॥२॥

उत्तमगुणानुरागो, निवसति हृदये तु यस्य पुरुपस्य ।
आ-तीर्थकरपदात्, न दुर्लभास्तस्य ऋद्धयः ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(जस्स) जिस (पुरिसस्स) पुरुष के (हियए तु) हृदय मे (उत्तमगुणाणुराओ) उत्तम गुणो का अनुराग=प्रेम (निवसइ) निवास करता है (तस्स) उस पुरुष को (आ-तित्थयरपयाओ) तीर्थकर पद से लेकर सब रिद्धियाँ=संपत्तियाँ (दुल्लहा) दुर्लभ=मुशकिल (न) नहीं है।

भावार्थ—जो महानुभाव दूसरो के सद्गुणों पर हार्दिक प्रेम रखते है, उनको चक्रवर्ती, वासुदेव,

वलदेव, प्रतिवासुदेव, माण्डलिक आदि संसारिक महोत्तम पदवियाँ; और तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, गणी, गणावच्छेदक, स्थविर आदि लोकोत्तर महोत्तम पदवियाँ सहज ही में (विना परिश्रम) प्राप्त होती हैं, परन्तु गुणानुराग उत्तम प्रकार का होना चाहिये, जिसमें कि किंचिन्मात्र भी विकार न हो।

विवेचन--वैर, मात्सर्य, द्वेष, और कलह; इन चार दुर्गुणों का प्रादुर्भाव जब तक हृदयक्षेत्र में रहता है, तब तक गुणों पर अनुराग नहीं होने पाता; इससे प्रथम इन्हीं दुर्गुणों का त्याग करना चाहिये।

वैर एक ऐसा दुर्गुण है; जो प्रचलित संप (मिलाप) में विग्रह खडा कर देता है। वैर रखने वाले मनुष्यों को शास्त्रकारोंने अधम प्रकृतिवालों में माना है। सकारण या निष्कारण किसी के साथ वैर रखना निकाचित--कर्मबन्ध का कारण है। वैर के प्रसंग से दूसरे अनेक दोषों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे भवभ्रमण के सिवाय और कुछ फायदा नहीं मिलता। अनादि काल से इन्हीं दोषों के सबब से यह चेतन महादुःखी हुआ, और पराभव के वश

पड़ निजगुण को भुल गया । यहाँ तक के कि–तन, धन, स्वजन और कुटुम्ब से विमुख हो नरक गति का दास बना । सूत्रकृताङ्गजी में सुधर्मस्वामी फरमाते है कि––

"वैराणुवंधीणि महब्भयाणि"

वैर विरोध के अनुवन्ध (कारण) महाभय उत्पन्न करते है और वे भय मनुष्यो (प्राणिमात्र) को अन्तराय किये विना नही रहते । वैर भयङ्कर अग्नि हैं; जिस प्रकार अग्नि का स्वभाव सव को भस्म करने का होता है उसी प्रकार वैर भी आत्मीय सव गुणो का नाश कर दुर्गति का पात्र वना देता है, और प्राप्त गुणों को नष्ट कर देता है। हृदय क्षेत्र मे वैर का असर रहता है जव तक दूसरे गुणों का असर नहिं होने पाता, और किंचिन्मात्र सुखानुभव भी नही हो सकता ।

इसलिये वैर सव सद्‌गुणो का शत्रुभूत और संसारवर्द्धक है; ऐसा समझ कर कल्याणार्थी–महानुभावो को दुःखमय संसार से छूटने के निमित्त सद्‌गुणी वनकर नित्यानन्द प्राप्ति के लिये इस प्रकार की प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि––

"मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणइ ।"

देव, दानव, आर्य, अनार्य, स्वधर्मी, विधर्मी, स्वगच्छीय, परगच्छीय, आदि सव प्राणियों के साथ मेरा मैत्रीभाव है, परन्तु किसी के साथ वैरभाव नहीं है। क्यों कि--

सव के साथ आन्तरिक प्रेम रखना ही मनुष्य का परम कर्त्तव्य है; अगर किसी के साथ धार्मिक विषय में जो कुछ वोलना सुनना पडे तो उसके साथ अत्यन्त मधुर वचनों से व्यवहार करना चाहिये, जिससे अपने कहने का असर उस पर जल्दी होवे। वहुत से लोग सत्य और असत्य वात का विचार न कर धार्मिक वैर-विरोध खडे करते हैं और ममत्व के आवेश में वशीभूत हो, तडें पाड कर जाति में कुसंप (भेद) डाल देते हैं। परन्तु वस्तुतः यह सव प्रपञ्च अवनति कारक और दुर्गतिदायक ही है। ऐसे वेर विरोध खडे करने से संसार में किसी का लाभ नहीं हो सकता, किन्तु अपनी और दूसरों की हानी ही होती है। हमारे आचार्यवर्य्यों का तो यही उपदेश है कि-वैर विरोध करना वहुत हानीकारक है, वैर विरोध से ही कौरव और पांडव अपनी राज्य और कुटुम्ब संपत्ति आदि से विमुख हुए। सैंकडो राजा, महाराजा, सेठ, साहूकार, वैर

विरोध के आवेश में आकर दुर्गति के पात्र वन, मनुष्य जीवन को हार गये। वस्तुतः देखा जाय तो वैर वड़ा भारी दुर्गुण होने से समग्र दु.खों का स्थान है। इस लिये वैर विरोध वढ़ा कर सर्वत्र अशान्ति फैलाने के समान कोई भी अधर्म नहीं है, और न इसके तुल्य कोई अधमता है। वैर-कारक मनुष्य अनेक जीवो को दुःख देता हुआ स्वयं नाना दु.खों को उपार्जन करता है। इस भव में अनेक दुःखदायी कर्म बाँधता है और पर भव मे भी नरक, तिर्यञ्च आदि स्थानो मे जाता है। फिर वहाँ वैरानुवंधी वध वन्धन आदि कर्मों का अनुभव करता है। अत एव सव दुःखों का मूल कारण वैरभाव है उसको परित्याग कर देना ही वुद्धिमान पुरुषो को उचित है।

मात्सर्य—

दूसरा दुर्गुण 'मात्सर्य' है, मत्सरी मनुष्य निरन्तर आकुल व्याकुल रहने से क्षणमात्र भी सुखी नहीं रहता, इस कारण सद्-असद् वस्तु का विचार भी नहीं कर सकता है। इससे उसको सद्गुण या सद्गुणो पर अनुराग नहीं होने पाता और वह हमेशां कृश (दुर्वलता) वन, असंख्य

दुःखों का पात्र वना रहता है। इस लिये आत्म-हितेच्छुओं को इस दुर्गुण का भी त्याग करना उचित है।

द्वेष—

तीसरा दुर्गुण 'द्वेष' है, यह द्वेष सारे सद्-गुणों का शत्रुभूत है। यही दुर्गुण आत्मीय ज्ञानादि महोत्तम गुणों को नष्ट कर देता है। यदि संसार में राग और द्वेष ये दो दुर्गुण नहीं होते तो सर्वत्र शान्ति का ही साम्राज्य वना रहता। क्यों कि—संसार में जितने वखेड़े हैं वे सव रागद्वेष के संयोग से ही हैं। कहा भी है कि—

रागद्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्।
रागद्वेषौ तु न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम्॥ १॥

भावार्थ—इस आत्मा में यदि राग और द्वेष ये दो दोष स्थित हैं तो फिर तपस्या करने से क्या लाभ हो सकता है?। अथवा यदि राग और द्वेष ये दो दोष नहीं हैं तो तपस्या करने से क्या प्रयोजन है?।

जीव को संसार में परिभ्रमण करानेवाले तथा नानाविध दुःख देनेवाले राग और द्वेष ही हैं।

इस लिये इन्हीं को नष्ट करने के निमित्त तमाम धार्मिक क्रिया अनुष्ठान (तपस्या, पठन, पाठ-नादि) किया जाता है। परन्तु जिन के हृदय से ये दो दोष अलग नही हुए, वे चाहे कितनी ही तपस्या आदि क्रिया करे, किन्तु द्वेषाग्नि से वे सब भस्म हो जाती है अर्थात्–उनका यथार्थ फल प्राप्त नही हो सकता। द्वेषी मनुष्य के साथ कोई प्राणी प्रीति करना नही चाहता, और न कोई उसको कुछ सिखाता–पढ़ाता है अगर किसी तरह वह कुछ सीख भी गया तो द्वेषावेश से सीखा हुआ नष्ट हो जाता है। क्यो कि–द्वेषी मनुष्य सदा अविवेकशील बना रहता है, इससे वह पूज्य पुरुषो का यथेष्ट विनय नही कर सकता; और न उनसे कुछ गुण ही प्राप्त कर सकता है। यदि कोई उपकारी महात्मा उस को कुछ सिखावे भी तो वह सिखाना उसके लिये उपरभूमिवत् निष्फल ही है। कहा भी है कि—

उपदेशो हि मूर्खाणां, प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम्॥ १॥

भावार्थ—मूर्खलोगों (द्वेषी मनुष्यों) को जो उपदेश देना है वह केवल कोप वढानेवाला ही

है, किन्तु शान्तिकारक नहीं है। जैसे–सर्पों को दूध का पान कराना केवल विष (जहर) बढ़ानेवाला ही होता है।

वर्त्तमान समय में हमारे जैनभाईयों ने इस दुर्गुण को मानों अपना एक निजगुण मान रक्खा है। इसीसे जहाँ देखते हैं वहाँ प्रायः द्वेषभाव के सिवाय दूसरा कुछ भी गुण दृष्टिपथ नहीं आता। गच्छों के ममत्व में पड़ कर अथवा क्रियाओं के व्यर्थ झगड़ों में पड़ कर परस्पर एक दूसरे को 'उत्सूत्रभाषी' 'अविवेकी' 'अज्ञानी' 'भवाभिनंदी' आदि संबोधनों से संबोधित कर द्वेषभाव बढ़ाते हैं और द्वेषावेश में गुणीजनों (महात्माओं) की भी आशातना कर व्यर्थ कर्म बाँधते हैं।

यह 'जैनधर्म' सर्वमान्य धर्म है, इसके संस्थापक सर्वज्ञ सर्वदर्शी वीतराग भगवान् हैं, जो राग और द्वेष रहित थे और दूसरों को भी राग द्वेष रहित उपदेश देते थे। जैन मात्र उन्हीं के सदुपदेशों के ग्राहक और उनके वचन पर श्रद्धालु हैं। परन्तु खेद की बात है कि–आज दिन उन्हीं जैनोंने अपने निजस्वरूप को छोड़ राग द्वेष के आवेश में आकर भगवान् के उपदेश को विस्मरण कर दिन

पर दिन परस्पर निन्दा कर द्वेषभाव फैलाते हैं, अर्थात्–श्वेताम्बरी दिगम्बरीयो की और दिगम्बरी श्वेताम्बरियों की, स्थानकपन्थी मन्दिरमार्गियों की तथा मन्दिरमार्गी स्थानकपन्थियों की, तेरहपन्थी ढूंढियों की और ढूंढिये तेरहपन्थियों की, अश्लील (अवाच्य) शब्दों से निन्दा कर द्वेष भाव बढ़ाते हैं, परन्तु वास्तविक तत्त्व क्या है ? इस बात का विचार नहीं कर सकते ।

जैनी महानुभावो ! यह तुम्हारी उन्नति तथा वृद्धि होने का और सद्गुण प्राप्ति का मार्ग नहीं है, यह तो केवल अवनति का और अज्ञानी बनने का ही मार्ग है । आचार्यवर्य बहुश्रुतगीतार्थ–शिरोमणी–भगवान् श्रीहरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज धार्मिक शिक्षा देते हुए लिखते हैं कि—

" एस पओसो मोहो, विसेसओ जिणमयठियाणं "

" धर्म के निमित्त अन्य किसी धर्मवाले के साथ द्वेषभाव रखना एक प्रकार का अज्ञान है, किन्तु जिनेन्द्रमत में स्थित पुरुषों को तो विशेषतः अज्ञान का कारण है. " इस वास्ते राग द्वेष के वश

न हो सत्य (सद्‌गुण) के ओर ही मन को आकर्षित रखना उचित है। क्योंकि—

" जबलौं राग द्वेष नहीं जीतहि,
तबलौं सुगति न पावे कोई "

जब तक राग द्वेष नहीं जीता जायगा तब तक मुक्ति सुख नहीं मिल सकता, न हृदयक्षेत्र की शुद्धि हो कर गुणानुराग का अङ्कूर ही ऊग सकता है।

कलह—

चौथा दुर्गुण 'कलह' है; जो कुसंप बढ़ाने का मुख्य हेतु है। यह बात तो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि—जहाँ संप नहीं है, जहाँ मिलन स्वभाव नहीं है, जहाँ सभी नेता है, जहाँ कोई किसी की आज्ञा में नहीं चलता, अथवा जहाँ मनमाने कार्य करनेवाले हैं, वहाँ संपत्ति और सद्‌गुणों का अभाव ही है। लोगों की कहावत है कि—

जहँ सब संप रमत हैं, तहँ सुखवास लहरी।
जहँ चलत फूट फजीता, तहँ नित टूट गहरी ॥१॥

यह कहावत बहुत ही उत्तम है, क्यों कि—जिसके यहाँ कलह (कुसंप) उत्पन्न हुआ कि उस का दिनों दिन घाटा ही होगा, परन्तु उसका

अभ्युदय किसी प्रकार नही हो सकता। क्योंकि–कलह करनेवाला मनुष्य सभी को अप्रिय लगता है इससे उसके साथ सव कोई घृणा रखते है, अर्थात् उसको अनादर दृष्टि से देखा करते हैं। अत एव जहॉ संप है, अर्थात्–जहॉ सव कोई संप सलाह से वर्त्ताव रखते हैं, वहॉ अनेक संपत्तियॉ स्वयं विलास किया करती हैं।

निर्वल संघ भी अगर संपीला हो तो वड़े वड़े वलिष्ठों से भी उस को हानि नहीं पहोंच सकती। और जो सवल संघ (समुदाय) कुसंपीला होगा तो वह एक निर्वल तुच्छ मनुष्य से भी पराभव को प्राप्त हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि–सप से जितना कार्य सिद्ध होगा उतना कलह से कभी नहीं हो सकता। क्यो कि–कलह सव संपत्तियों का विनाशक है, और कार्य सिद्धि का शत्रु है।

इसलिये हर एक की उन्नति अपनी अपनी एकता (संप) के उपर स्थित है। जो इस एकता के सूत्र को छिन्न भिन्न करते है वे मानो कट्टर शत्रु को अपने घर मे निवास कराते है, क्योकि–विना छिद्र पाये शत्रु घर के अन्दर प्रवेश नही कर सकता। तो यदि सव एक प्राण हो भ्रातृभाव धारण कर

सत्य मार्ग को प्रकाशित करें तो किसका सामर्थ्य है कि उनके अंगीकार किये हुए मार्ग पर आक्रमण कर सके। जो लोग कलह के वश में पडे हैं, वे हजार उपाय करें तो भी इतर जनों से परास्त हुए विना नहीं रहेंगे अर्थात्-सब जगह उनकी हार ही होगी।

पञ्चतंत्र के तीसरे तंत्र में लिखा है कि—

लघूनामपि संश्लेषो, रक्षायै भवति ध्रुवम्।
महानप्येकजो वृक्षो, वलवान् सुप्रतिष्ठितः ॥ १ ॥
सुमन्देनापि वातेन, शक्यो धूनायितुं यतः।
यथा भिन्नत्वमापन्नो, वलवान् सुदृढोऽपि सः ॥ २ ॥
एवं मनुष्यमप्येकं, शौर्येणापि समन्वितम्
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते, हिंसन्ति च ततः परम् ॥३॥
वलिनाऽपि न वाध्यन्ते, लघवोऽप्येकसंश्रयात् ॥
प्रभञ्जनविपक्षेण, यथैकस्था महीरुहाः ॥ ४ ॥

भावार्थ—संप के सद्गुण से वलहीन मनुष्य भी सव प्रकार से अपनी रक्षा कर सकता है, जैसे-यदि वृक्ष सघन न लगे हों दूर दूर पर लगे हों, तो उन (वृक्षों) को अल्प पवन भी हिला सकता है; उसी प्रकार वलवान् समुदाय में जो ऐक्य का वन्धन न हो, तो उस प्रवल समुदाय को साधारण

मनुष्य भी पराजित कर सकता है और सघन (सटे हुए) छोटे छोटे वृक्षों को जिस प्रकार प्रबल पवन भी बाधा नहीं पहुँचा सकता अर्थात्-हिला नहीं सकता; उसी प्रकार दुर्बल मनुष्य भी जो ऐक्य मे स्थित हो जाय तो उनको बलवान् समुदाय भी बाधा नहीं पहुँचा सकता।

इसी से कहा जाता है कि-किंचिन्मात्र भी कलह (कुसंप) गुणों का नाशक है, ऐसा समझ कर कलह को छोडना ही अत्युत्तम है।

एक समय वह था कि जिसमें अनेक भाग्यशाली शासनप्रभावक आचार्य और साधु तथा श्रावक परस्पर एक दूसरों के धर्मकार्यों से प्रसन्न रहते थे और अपरिमित मदद देकर एक दूसरे को उत्साहित करते थे। उस समय हमारे जैन धर्म की कितनी उन्नति झलकती थी और अभी की अपेक्षा जैनों की कितनी वृद्धि होती थी?। इस विषय का जरा सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया जाय तो यही मालूम पड़ता है कि-उस समय में ऐक्यता का बन्धन प्रशंसनीय था जिससे वे महानुभाव अपनी २ उन्नति करने में कृतकार्य होते थे। अत एव—

महानुभावो ! परस्पर के कुसंप वीजों को जलाञ्जली देकर जैनधर्म की उन्नति करने में परस्पर ऐक्यता रक्खो और परापवाद (निन्दा) आदि दुर्गुणों को छोड़ो जिससे फिर जैनधर्म और जैन जाति का प्रवल अभ्युदय होवे क्यों कि—ऐक्यता ही सम्पूर्ण उन्नति मार्ग में प्रवेश कराने वाला अमूल्य रत्न है।

इस प्रकार इन चारों दुर्गुणों को दुःखदायी समझकर समूल परित्याग करने से हृदयक्षेत्र शुद्ध होता है और उसमें प्रत्येक सद्गुण उत्पन्न होने की योग्यता होती है। वैर आदि दुर्गुणों का अभाव होते ही शान्ति आदि सद्गुण वढ़ने लगते हैं। और सव संसार में शान्ति फैलाने वाली और कुसंप को समूल नष्ट करने वाली मैत्री १, प्रमोद २, कारुण्य ३, और माध्यस्थ ४ ये चार महोत्तम भावनाएँ पैदा होती हैं। जिनका स्वरूप योगशास्त्र के चौथे प्रकाश में इस तरह कहा है कि—

मैत्री आदि भावना—

माकार्षीत्कोऽपि पापानि, मा च भूत्कोऽपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥ ११८ ॥

भावार्थ—समस्त प्राणियों में कोई भी पापों को न करे, और न कोई प्राणी दुःखी रहे तथा

समस्त संसार, कर्मों के उपभोग से मुक्त हो जॉय; इस प्रकार की बुद्धि का नाम 'मैत्री भावना' है।

विवेचन—जो मनुष्य ऐसा विचार करता है कि—कोई प्राणी पाप न करे, अर्थात्—पाप करने से कर्म वन्ध होता है जिसका परिणाम अनिष्टगति की प्राप्ति है, वह मैत्री भावना रखने वाला कहा जाता है, या कोई दु.खी न हो, जिसके हृदय मे ऐसी भावना है वह पुरुप परम दयालु होने से स्वयं सुखी रहता है और दूसरो को भी सुख पहुँचाने की चेष्टा करता है, जिसका परिणाम उत्तम गति है। तथा 'जगत् के सभी जीव मुक्त हो जायॅ' जिसकी ऐसी भावना है, वह परम कृपालु स्वयं मुक्त करनेवाला होता है, क्यो कि जगत् का कल्याण करनेवाला पुरुप असद् मार्ग से हमेशा दूर रहता है और अपने समागम मे आये हुए लोगो को गुणी वनाता है।

महानुभावो! संसार मे ऐसी कोई भी जाति अथवा योनि या स्थान किवा कुल नहीं है, जहॉ कि—यह जीव अनन्त वार उत्पन्न और मृत्यु को प्राप्त न हुआ हो। इसीसे कहा जाता है कि—

"सव्वे सयणा जाया, सव्वे जीवा य २९०। ।"

अर्थात्—सब प्राणी परस्पर स्वजन संवन्धी हुए और सभी जीव परजन (अपने से प्रेम नहीं रखनेवाले) भी हुए। अत एव एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सभी जीवों के साथ हार्दिक प्रेम रखना चाहिये; किन्तु किसी के साथ राग–द्वेष परिणाम रखना ठीक नहीं है।

प्रमोदभावना—

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्त्तितः॥ ११९॥

भावार्थ—संपूर्ण दोषों को हटा कर सूक्ष्म-विचार से वस्तुतत्त्व को अवलोकन करनेवाले मनुष्यों के गुणों पर जो पक्षपात रखना वह 'प्रमोद भावना' कही जाती है।

विवेचन—संसार में सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य, स्थैर्य, प्रियभाषण, परोपकार आदि सद्गुणों से विभूषित जो लोग हैं उनके गुणों पर पक्षपात–रखना चाहिये। क्यों कि–उनके गुणों का पक्षपात करने से आत्मा सद्गुणी बनता है। जो लोग गुणी जनों के गुणों का बहुमान करते हुए उनकी

प्रशंसा बढ़ा कर आत्मा को पवित्र बनाते हैं वे स्वयं गुणवान् होते है।

किसी के अभ्युदय को देखकर अमर्ष (ईर्ष्या) करने के समान संसार मे कोई पाप नहीं है। वस्तुतः देखा जाय तो गुणद्वेषी मनुष्य महानिन्द्नीय कर्म बॉध कर संसारकान्तार मे पशु की तरह परिभ्रमण करता रहता है और अनन्त जन्म मरण आदि दु:ख सहन करता है। बुद्धिवान् पुरुषों को हर एक कार्य करते हुए विचारना चाहिये कि-यह कार्य वर्त्तमान और अनागत काल मे लाभकारक मालूम होगा या नहीं ? अगर लाभकारक मालूम पड़ता हो तो उस कार्य में हस्ताक्षेप करना चाहिये। यदि हानि होती हो तो उससे अलग रहना चाहिये। अत एव महानुभावो ! परदोषों को देखना छोडो और गुणी जनों के गुणों को देख कर हृदय से आनन्दित रहो। कहा भी है कि—

लोओ परस्स दोसे, हत्थाहत्थि गुणे य गिण्हंतो।
अप्पाणमप्पण च्चिय, कुणइ सदोसं च सगुणं च ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दूसरों के दोषों को ग्रहण करता है वह अपने आत्मा को अपने ही

आत्मा से दोषवाला बनाता है, और जो स्वयं दूसरों के गुणग्रहण करता है वह अपनी आत्मा को स्वयं सद्गुणी बनाता है। क्यों कि-गुणी जनों के गुणों का पक्षपात करनेवाला पुरुष इस भव और परभव में शरदृऋतु के चन्द्रकिरणों की तरह अत्युज्ज्वल गुणसमूह का स्वामी बनता है।

कारुण्यभावना—

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते ॥ १२० ॥

भावार्थ-दीन, पीड़ित, भयभीत, और जीवित की याचना करने वाले मनुष्यादि प्राणियों के दुःखों का प्रतीकार (उपाय)करने की जो बुद्धि हो उसका नाम 'कारुण्य भावना' है।

विवेचन—दुःखि प्राणियों के दुःख हटाने में प्रयत्नशील रहना मनुष्य का मुख्य कर्त्तव्य है। जो लोग दया के पात्र हैं उनके दुःखों को यथाशक्ति मिटाने वाला पुरुष भवान्तर में अनुपम सुखसौभाग्य का भोक्ता होता है, इसलिये दीन, हीन, पीडित और भयभीत प्राणियों को देखकर धर्मात्मा पुरुषों को दयार्द्रचित्त रहना चाहिये। क्यों कि—

जिस के हृदय भवन में कारुण्यभावना स्थित है वह पुरुष सब को सन्मार्ग में चलाने के लिये कटिबद्ध रहता है।

कई एक लोग किसीको शिक्षा देते समय लोगों की निन्दा और उनके अवगुण प्रकट करते हैं, परन्तु ऐसा करने से कोई सद्गुणी नहीं बन सकता। संसार में सर्वगुणी वीतराग भगवान् के सिवाय दूसरा कोई प्राणी नहीं हैं, कोई अल्प दोषी है तो कोई विशेष दोषी। इससे प्राणिमात्र के दोषों पर दृष्टि न डाल कर उन्हे शान्तिपूर्वक सुधारने की चेष्टा रखना चाहिये जिससे कि वे सन्मार्ग में प्रवृत्ति कर सकें। अत एव प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था में कारुण्यभाव रखकर दयापात्र प्राणियों के दुःख मिटाने का प्रयत्न करो कि जिसका परिणाम उभय लोक में उत्तम हो। कहा भी है कि—

परपरिभवपरीवादा–दात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभव–मनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥१॥

भावार्थ—दूसरों का तिरस्कार (अपमान) तथा दूसरों की निन्दा और आत्मप्रशंसा से नीच-गोत्र नामक कर्म का बन्ध होता है, जो अनेक भवकोटी पर्यन्त दुर्मोच हो जाता है अर्थात् बहुत

मुश्किल से छूट सकता है। इस लिये परनिन्दा, परापमान और आत्मोत्कर्ष को सर्वथा छोड़कर आत्मा को कारुण्यभावना से भावित करना चाहिये।

माध्यस्थ्यभावना—

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं, देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥१२१॥

भावार्थ—निःशङ्क होकर क्रूर कर्म करनेवाला, तथा देवता और गुरु की निन्दा करनेवाला, एवं आत्मश्लाघा (अपनी प्रशंसा) करनेवाला जीव अधम माना गया है, ऐसे जीवों पर भी उपेक्षा करना 'माध्यस्थ्यभावना' मानी गयी है।

विवेचन—संसार में लोग भिन्न भिन्न प्रकृतिवाले होने से परभव में होनेवाले दुःखों की परवाह न कर कुत्सितकर्म (निन्दनीय व्यापार) या देव गुरु की निन्दा और अपनी प्रशंसा तथा दुसरों का अपमान करने में उद्यत रहते हैं। परन्तु उन पर बुद्धिमानों को समभाव रखना चाहिये, किन्तु उन की निन्दा करना अनुचित है। जिनेश्वरोंने यथार्थ-रूप से वस्तुस्वरूप दिखलाने की मना नहीं की, किन्तु निन्दा करने की तो सख्त मनाई की है। सदुपदेश देकर ऐसे लोगों को समझाने की बहुत आव-

श्यकता है, परन्तु हितशिक्षा देने पर भी यदि कषाय-भाव की बहुलता होती हो तो मध्यस्थभाव रखना ही लाभकारक है। अत एव निन्दा विकथा आदि दोषों को सर्वथा छोड़कर निन्दक और उद्धत मनुष्यों के ऊपर भी मध्यस्थभाव रखना चाहिये और यथाशक्ति समभावपूर्वक हर एक प्राणी को हित-शिक्षा देना चाहिये।

इस प्रकार कलहभाव को छोड़ने से मनुष्यों के हृदय भवन में चार सद्भावनाएँ प्रगट होती हैं और इन सद्भावनाओं के प्रभाव से मनुष्य सद्-गुणी बनता है।

सर्वत्र ' गुणानुराग ' ही प्रशंसनीय है. इससे इसीको धारण करना चाहिये—

ते धन्ना ते पुन्ना, तेसु पणामो हविज्ज मह निच्चं।
जेसिं गुणाणुराओ, अकित्तिमो होइ अणवरयं ॥ ३॥

ते धन्यास्ते पुण्यास्तेषु प्रणामो भूयान्मम नित्यम्।
येषां गुणानुरागोऽकृत्रिमो भवत्यनवरतम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—(ते) वे पुरुष (धन्ना) धन्यवाद देने योग्य हैं (ते) वेही (पुन्ना) कृतपुण्य हैं (तेसु) उनमें (मह) मेरा (निच्चं) निरन्तर (पणामो)

नमस्कार (हविज्ज) हो। (जेसिं) जिन्हों के हृदय में (अकित्तिमो) स्वाभाविक (गुणाणुराओ) गुणानुराग (अणवरयं) हमेशा (होइ) होता है—बना रहता है।

भावार्थ—जिन पुरुषों के हृदय में दूसरों के गुणों पर हार्दिक अनुराग बना रहता है, वे पुरुष धन्यवाद देने योग्य हैं, और कृतपुण्य हैं तथा वेही नमस्कार करने योग्य हैं।

विवेचन—गुणानुरागी महानुभावों की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोडी है। इस लिये जो दूसरों के गुणों को देख कर उन पर प्रमोद धारण करता है, उसके बराबर दूसरा कोई कृतपुण्य और पवित्रात्मा नहीं है। मत्सरी मनुष्य परगुण ग्रहण करने की सीमा तक नहीं पहुँच सकता, इससे उस मत्सरी के हृदय में गुणों पर अनुराग नहीं उत्पन्न होता। अत एव जिन पुरुषों के हृदय-भवन में यथार्थ गुणानुराग बना रहता है, उनकी इन्द्रभवन में भी स्तुति की जाती है और उन (गुणानुरागी) को सब कोई नमस्कार किया करते हैं। महात्मा भर्तृहरी ने लिखा है कि—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता,
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
भक्तिः स्वामिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।

भावार्थ—सज्जनों के समागम मे वॉछा, दूसरो के सद्गुणो पर प्रीति, गुरुवर्य में नम्रता, विद्या में व्यसन, अपनी स्त्री[1] में रति, लोकापवाद से भय, अपने स्वामी में भक्ति, आत्मदमन करने मे शक्ति, खल (दुर्जन) लोगों के सहवास का त्याग, ये निर्मल आठ गुण जिन पुरुषों में निवास करते हैं उन भाग्यशाली मनुष्यों के लिये नमस्कार है। अर्थात्–इन आठ गुणो से अलङ्कृत मनुष्य नमस्कार और पूजा करने योग्य है॥ तात्पर्य यह है कि–सर्वत्र गुणानुरागी की ही पूजा होती है और उसीका जीवन कृतार्थ (सफल) समझा जाता है।

जन्म जरा मृत्यु आदि दुःखों से पीडित इस संसार में प्रत्येक मनुष्य स्वप्रशंसा, स्वहित, अथवा लोकोपकारार्थ हर एक गुण को धारण करते हैं अर्थात्–हमारी प्रशंसा बढ़ेगी, सब कोई हमें सदा-

---

१ गृहस्थ की अपेक्षा–स्वदार–सन्तोषव्रत में रति, और साधु की अपेक्षा–सुमति रूप रमणी में रति।

चारी या तपस्वी कहेंगे, संसार में सर्वत्र हमारी कीर्त्ति फैलेगी, हमारा महत्त्व व स्वामित्व बढ़ेगा, हमें लोग पूजेंगे तथा वन्दना करेंगे अथवा हमें उत्तम पदवी मिलेगी; इत्यादि अपने स्वार्थ की आशा से बाह्याडम्बर मात्र से शुद्ध आचरण और शास्त्राभ्यासादि करना तथा सब के साथ उचित व्यवहार रखना सो सब स्वप्रशंसा के निमित्त है, इससे परमार्थतः यथार्थ फल प्राप्त नहीं हो सकता। और जो अनादि काल से यह आत्मा दोषों के वशवर्त्ती हो, गुणधारण किये विना नाना दुःखों को सहन करता है परन्तु लेश मात्र सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इस विचार से आप्तप्रणित सिद्धान्तों के रहस्यों को स्वक्षयोपशम या गुर्वादिकों की कृपा से समझकर यथाशक्ति सदाचरण को स्वीकार कर दोषों का परित्याग करना; वह स्वाहितगुणधारण है। वास्तव में इस विचार से जो गुण आचरण किये जाते हैं; वेही उभय लोक में सुखानुभव करा सकते हैं।

जो लोग अनेक कष्ट सहन कर पराहित करने के निमित्त सद्गुणों का संग्रह करते हैं, अथवा परोपकार करने की बुद्धि से शास्त्र अभ्यास व

कलाभ्यास करते हैं; तथा सब जीवो का उद्धार करने के लिये संयमपालन करते है, और गॉव गॉव पैदल विहार कर अपने उपदेशों से असद् मार्ग में पड़े हुए प्राणियो को निकाल कर सद्धर्ममार्ग मे स्थापित करते है अथवा हमेशां निःस्वार्थ वृत्ति से दोप रहित आप्तभापित उत्तम धर्म की प्ररूपणा करते है; वह सब आचरण लोकोपकारार्थ है। इससे उत्तमता के और अनुपम सुख के दायक ये ही सद्गुण है, इसीका नाम असली गुणानुराग है। अतएव अकृत्रिम गुणानुरागी सत्पुरुप सब में गुण ही देखते है परन्तु उनकी दृष्टि दोपों पर नहीं पड़ती।

गुणानुरागी महानुभावों का यह स्वभाव होता है कि अपना उत्कट शत्रु या निन्दक अथवा कोई अत्यन्त घिनावनी वस्तु हो तो भी वह उनके अवगुण के तरफ नहीं देखेगा, परन्तु उनमें जो गुण होंगे उन्हीं को देखकर आनन्दित रहेगा। शास्त्रकारोंने गुणानुराग पर एक दृष्टान्त बहुत ही मनन करने लायक लिखा है कि---

सौराष्ट्र देश में सुवर्ण और मणिमय मन्दिर तथा प्राकार से शोभित धनद (कुवेर) की बनाई

हुई 'द्वारिका' नाम की नगरी थी। उसमें दक्षिण-भरतार्द्धपति, यादवकुलचन्द्र श्रीकृष्ण (वासुदेव) राज्य करते थे। वहाँ पर एक समय घातिकर्म—चतुष्टय को नाश करनेवाले, मिथ्यातिमिरदवाग्नि—भगवान् 'श्री अरिष्टनेमी स्वामी' श्रीरैवतगिरि पर 'नन्दन' नामक उद्यान में देवताओं से रचित समवसरण के विषे देशना देने के लिये विराजमान हुए। तदनन्तर वनपालक से भगवान् का आगमन सुनकर प्रसन्न हो, भरतार्द्धपति—श्रीकृष्णजी तीर्थङ्कर भगवान् को वन्दना करने के लिये चले। उनके साथ समुद्रविजयादि दशदशार्ह, बलदेवादि पांच महावीर, उग्रसेन वगैरह सोलह हजार राजवर्ग, और इक्कीस हजार वीर—योद्धा, शाम्ब प्रभृति साठ हजार दुर्दान्त—कुमार, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ राजकुमार, महासेन प्रमुख छप्पन हजार बलवान वर्ग, तथा शेठ शाहूकार आदि नगर निवासी लोग भी चले।

इसी समय सौधर्मेन्द्र अवधिज्ञान से श्रीकृष्ण का मन (स्वभाव) गुणानुरागी जानकर प्रसन्न हो, सभा में अपने देवताओं से कहने लगा कि—हे देवताओ! देखो देखो ये महानुभाव 'श्रीकृष्ण'

सदा दूसरों के अत्यल्पगुण को भी महान् गुण की बुद्धि से देखता है। इस अवसर पर एक देवताने विचार किया कि–वालकों के समान वड़े लोग भी जो जी में आता है, कहा करते है। इस लिये इस वात की परीक्षा करना चाहिये कि–वस्तुतः यह वात कैसी है ?, ऐसा सोचकर वह देवता श्रीकृष्ण के मार्ग में एक मरा हुआ दुर्गन्धि से पूर्ण खुले दांतवाला काला कुत्ता प्रकट करता हुआ, उसकी दुर्गन्धि से व्याकुल हो संपूर्ण सेना कपडे से नाक तथा मुख को वॉधती हुई इधर उधर दूर होकर चलने लगी। किन्तु श्रीकृष्ण तो उसी रास्ते से जाते हुए उस कुत्ते को देखकर यों वोले–अहो! इस काले कुत्ते के मुख में सफेद दंतपंक्ति ऐसी शोभित हो रही है–जैसे मरकत (पन्ने) की थाली में मोती की माला हो।

इस प्रकार श्री कृष्ण को गुणानुराग में लवलीन देखकर देवता विचारने लगा कि–" कहवि न दोसं वयंति सप्पुरिसा " अर्थात्–सत्पुरुष कभी किसी के दोप अपने मुह से नहीं वोलते किन्तु अपकारी के भी गुण ही ग्रहण करते हैं।

पश्चात् उस देवताने सौधर्मेन्द्र के वचनो को

सत्य जानकर और अपना दिव्य रूप प्रकट कर पर गुण ग्रहण करने वालों में प्रधान जो श्रीकृष्ण उसकी बहुत प्रशंसा की और सब उपद्रवों को नाश करने वाली भेरी (दुन्दुभी) दी। फिर श्रीकृष्ण श्री रैवतगिरि के ऊपर समवसरण में प्राप्त हो भगवान् को वन्दना कर अपने योग्य स्थान पर बैठ गया। तब भगवान् ने दुरिततिमिरविदारिणी देशना प्रारम्भ की कि—हे भव्यो ! इस भवरूपी जंगल में सम्यक्त्व (समकित) को किसी न किसी प्रकार से प्राप्त करके उसकी विशुद्धि (शुद्धता) के निमित्त दूसरों में विद्यमान गुणों की प्रशंसा करना चाहिये। क्योंकि—जिस प्रकार समस्त तत्त्वों के विषय में अरुचि सम्यक्त्व को मूल से नष्ट कर देती है उसी प्रकार दूसरों के सद्गुणों की अनुपबृंहणा अर्थात्—प्रशंसा न करना तत्त्व (सम्यक्त्व) में अतिचार उत्पन्न करने वाली होती है, फिर जीवों में स्थित गुणों की यदि प्रशंसा न की जाय तो अत्यन्त क्लेश से प्राप्त उन गुणों का कौन आदर करे ?, इस लिये ज्ञानादि के विषय में जहाँ जितना गुण का लेश दिखाई दे उसको सम्यक्त्व का अंग

मान कर उतनी प्रशंसा करनी चाहिये, क्योंकि जो मात्सर्य के वश होकर या प्रमाद से किसी मनुष्य के सद्गुणों की प्रशंसा नही करता वह " भवदेवसूरि " के समान दुःख को प्राप्त होता है।

पाठक महोदय! थोड़ासा अपना ध्यान इधर आकर्षित कीजिये कि–गुणानुराग की महिमा कितना प्रवल है?, जिसके प्रभाव से गुणानुरागी पुरुष की इन्द्र भी नम्रभाव से आश्चर्य पूर्वक स्तुति करते हैं और अनेक दिव्य वस्तुओं की प्राप्ती होती है।

क्योंकि गुणानुरागी पुरुष अमत्सरी होता है। इससे वह किसी की निन्दा नहीं करता और मधुर वचनों से सब के साथ व्यवहार करता है। अपना अहित करने पर भी किसी के साथ विगाड़ करना नहीं चाहता और न किसी का मर्मोद्घाटन करता है, इसी से वह चुगली, तथा दुर्जन की संगति, आदि सदोष मार्गों से विलकुल संबन्ध नहीं रखता हुआ धार्मिक विचार में भी विवाद और शुष्कवाद को सर्वथा छोड़ कर न्यायपूर्वक प्रवृत्त होता है।

वादत्रिपुटी—

तीनों वादों का स्वरूप जो श्रीमान् 'श्रीहरिभद्रसूरिजी' महाराज ने स्वकृत 'अष्टक' (अध्यात्मसार) में निरूपण किया है। वही यहाँ प्रसङ्ग वश से दिखलाया जाता है—

अत्यन्तमानिना सार्द्धं, क्रूरचित्तेन च दृढम्।
धर्मद्विष्टेन मूढेन, शुष्कवादस्तपस्विनः ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अत्यन्त अभिमानी, दुष्ट अध्यवसाय वाला, धर्म का द्वेषी, और युक्त अयुक्त के विचार से शून्य (मूर्ख) पुरुष हैं, उनके साथ तपस्वी को वाद करना वह 'शुष्कवाद' कहलाता है। अर्थात् यह वाद अनर्थ का कारण है; क्यों कि–इस वाद में खाली कण्ठशोष के अतिरिक्त कुछ भी सत्याऽसत्य का निर्णय नहीं होता प्रत्युत वैर विरोध बढ़ता है, इसीसे संयमघात, आत्मघात और धर्म की लघुता आदि दोषों का उद्भव होकर संसार वृद्धि होती है। अर्थात्–वाद करते समय अभिमानी अगर हार गया तो अभिमान के कारण आत्मघात करेगा, अथवा मन में वैरभाव रख कर जिससे हार गया है उसका घात करेगा, या उसके

धर्म की निन्दा करेगा। यदि गुणानुरागी (तपस्वी-साधु) अभिमानी आदि से पराजित हो गया तो संसार मे निन्दा का पात्र बनेगा और अपने धर्म की अवनति करावेगा। इससे ऐसा वाद परमार्थ से हानिकारक ही है।

लब्धिख्यात्यर्थिना तु स्या-दुस्थितेन महात्मनः
छलजातिप्रधानो यः, स विवाद इति स्मृत. ॥४॥

भावार्थ—सुवर्ण आदि का लोभी, कीर्त्ति को चाहनेवाला, दुर्जन अर्थात्-खींजने वाला-चिढ़ने वाला, और उदारता रहित पुरुषों के साथ छल अथवा जाति नामक वाद करना 'विवाद' कहलाता है।

इस प्रकार छल, जाति (दुपणाभास) आदि के विना किये हुए वाद में तत्त्ववादी को विजय प्राप्त होना मुश्किल है। जो कदाचित् विजय भी प्राप्त हुआ तो पूर्वोक्त वादियों को धर्म का बोध नहीं होता किन्तु उलटा रागद्वेप बढ़ कर आत्मा क्लेशों के वशीभूत होता है। परस्पर एक दूसरों के दोपों को देखते हुए निन्दा या मानभंग होने के सिवाय कुछ भी तत्त्व नहीं पा सकते, इससे यह

वाद् भी अन्तराय आदि दोषों का उत्पादक और यश का घातक है।

परलोकप्रधानेन, मध्यस्थेन तु धीमता।
स्वशास्त्रज्ञाततत्त्वेन, धर्मवाद उदाहृतः ॥ ६ ॥

भावार्थ—परलोक को प्रधान रूप से मानने-वाला, मध्यस्थ, बुद्धिमान, और अपने शास्त्र का रहस्य जानने वाला, तथा तत्त्वगवेषी के साथ में वाद् करना उसका नाम 'धर्मवाद्' है, क्योंकि परलोक को मानने वाला पुरुष दुर्गति होने के भयसे वाद् करते समय अयुक्त नहीं बोलता। और मध्यस्थ (सब धर्मों की सत्यता पर समान बुद्धि रखने वाला) पुरुष गुण और दोष का ज्ञाता होने से असत्य का पक्षपाती नहीं बनता। एवं बुद्धिवान्-धर्म, अधर्म, सद्, असद्, आदि का निर्णय स्वबुद्धि के बल से भले प्रकार कर सकता है; इसी तरह स्वशास्त्रज्ञ पुरुष धर्म वाद् में दूषित और अदूषित धर्मों की आलोचना (विचार) कर सकता है। इससे इन वादियों के साथ धर्मवाद करने से विचार की सफलता न्यायपूर्वक होती है।

धर्मवाद् में मुख्यतया ऐसी बातों का विषय

रहना चाहिये कि जिससे किसी मजहब को बाधा न पहुंचे, अर्थात्–जिस बात को सब कोई मान्य करें। उनमे अपेक्षा या नामान्तर भले रहे, परन्तु मन्तव्य में भेद नही रहना चाहिये। अथवा किसी कारण से मत पक्ष मे निमग्न हो, जो कोई मान्य न करे परन्तु युक्ति और प्रमाणों के द्वारा उनका खण्डन भी न कर सके। जैसे–लिखा है कि—

पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम्।
अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥ १ ॥

भावार्थ—अहिंसा–अर्थात् किसी जीव को मारना नहीं १, सत्य–याने प्राणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी झूठ नहीं बोलना २, अस्तेय–सर्वथा चोरी नहीं करना ३, त्याग–परिग्रह (मूर्छा) का नियम करना ४, और मैथुनवर्जन–ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना ५, ये पांच पवित्र–निर्मल महाव्रत सब धर्मावलम्बियो के मानने योग्य हैं।

अर्थात्—जैनलोगो के धर्मशास्त्र में ये पांच धर्म 'महाव्रत' नाम से प्रख्यात हैं। तथा सांख्य-मत वाले इनको 'यम' कहते हैं, और अक्रोध, गुरु सेवा, पवित्रता, अल्पभोजन तथा अप्रमाद,

इनको ' नियम ' कहते हैं। पाशुपत मतावलम्बी इन दशों को ' धर्म ' कहते हैं। और भागवत लोग पांच यम को ' व्रत ' तथा नियमों को ' उपव्रत ' मानते हैं। बौद्धमत वाले पूर्वोक्त दश को ' कुशल-धर्म ' कहते हैं, और नैयायिक, तथा वैदिक वगैरह ' ब्रह्म ' मानते हैं। इसी से कहा जाता है कि—संन्यासी, स्नातक, नीलपट, वेदान्ती, मीमांसक, साङ्ख्यवेत्ता, बौद्ध, शाक्त, शैव, पाशुपत, कालामुखी, जङ्गम, कापालिक, शाम्भव, भागवत, नग्नव्रत, जटिल आदि आधुनिक और प्राचीन सब मतावलम्बियों ने पवित्र पांच महा धर्मों को यम, नियम, व्रत, उपव्रत, महाव्रतादि नाम से मान्य रक्खा है। किन्तु कोई दर्शनकार इनका खंडन नहीं करता; अत एव ये पवित्र धर्म सर्वमान्य हैं।

ऐसी अनेक निर्विवाद बातों का वादानुवाद चला कर नीतिपूर्वक सत्यबात को स्वीकार करना और दूसरों को सत्यपक्ष समझा कर सद्धर्म में स्थापित करना यही उत्तम वाद "धर्मवाद ' कहलाता है। धर्मवाद करते समय पक्षापक्षी (ममत्व) को तो विलकुल छोड़ देना ही चाहिये, क्योंकि–ममत्व को छोड़े विना धार्मिक निवेड़ा हो ही नहीं सकता है।

धर्मवाद् में पक्षपात को सर्वथा छोड़ कर सत्य बात पर कटिबद्ध रहना चाहिये और सत्यता की तरफ ही अपने मनको आकर्पित रखना चाहिये। यद्यपि यह नियम है कि सत्याऽसत्य का निर्णय हुए विना अपनी पकड़ी वात नहीं छूटती, तथापि प्रतिपक्षी की तरफ अनादरता जाहिर करना उचित नही है। क्योकि धर्मवाद् में कदाग्रह-दुराग्रह, मतममत्व, अहंकार, तिरस्कार, आत्मश्लाघा, मर्म-भेदिता, दुर्गुणोद्भावना, दिल्लगी, उपहास्य, छल, प्रपञ्च, कपट, कुटिलता आदि दोपजन्य दुर्गुणों का सर्वथा अभाव होता है। और शील, संतोप, विवेक आदि की प्रधानता रहती है, इससे इस वाद् मे अश्लील शब्दों का व्यवहार नहीं किया जा सकता, किन्तु परस्पर प्रेम पूर्वक मधुर वचनो से सशास्त्र पारमार्थिक विचार किया जाता है। इस लिये गुणा-नुरागी महानुभावों को मैत्री, प्रमोद, करुणा, और माध्यस्थ भावनाओं को धारण कर जहाँ खलपुरुपो का विशेप प्रचार न हो १, जहाँ दुर्भिक्ष या कृपण लोग न हों २, जहाँ राजा और सभासद सत्यप्रेमी हों ३, तथा प्रतिवादी परगुणग्रहणशाली हो ४ इत्यादि वादयोग्य सव तैयारी मिलने पर सत्तत्त्व का

निर्णय करने के वास्ते धर्मवाद करना चाहिये।

इस प्रकार के वाद से ही अज्ञान का विनाश और सद्धर्म का प्रकाश होता है। कहा भी है कि— "वादे वादे जायते तत्त्ववोधः" वास्तव में धर्मवाद से ही सर्वत्र शान्तिभाव फैल कर वैर विरोध का अभाव होता है और सत्य धर्म की शुद्धि का उत्साह बढ़ता है, तथा हर एक शिक्षा का प्रभाव पड़ कर मात्सर्यभाव मिटता है, और संसार में पूज्य पद मिलता है। इससे पुरुषों को अपने प्रत्येक भाषण में मधुर और प्रिय वचनों का प्रयोग करना चाहिये। अपने शत्रु या अहितकर्त्ता के दोषों पर भी ध्यान न रख कर उनके गुणों के ऊपर ही अनुरागी बनना चाहिये।

गुणानुराग के विना विद्याऽभ्यासाऽऽदि सब व्यर्थ हैं—

किं बहुणा भणिएणं, किं वा तविएण दाणेणं।
इक्कं गुणाणुरायं, सिक्खह सुक्खाण कुलभवणं॥

(किं बहुना भणितेन, किं वा तपसा दानेन ?
एकं गुणानुरागं, शिक्षय सुखानां कुलभवनम्)

शब्दार्थ—(बहुणा) अधिक (भणिएणं) पढ़ने से (वा) अथवा (तविएण) तपस्या करने से,

और (दाणेणं) दान देने से (किं) क्या होने वाला है ?, किन्तु (इक्कं) एक (सुक्खाण) सब सुखों का (कुलभवणं) उत्तम गृह (गुणाणुरायं) गुणानुराग–महागुण को (सिक्खह) सीखो ॥ ४॥

भावार्थ—पढ़ने से, अनेक प्रकार की तपस्या करने से, और दान देने से; फ़िजूल खोटी होना है, अर्थात् इनसे कुछ भी फ़ायदा नहीं हो सकता ? इसलिये केवल एक गुणानुराग महागुण का ही अभ्यास करना चाहिये जो अनेक उत्तम गुणो का कुलगृह है ॥ ४ ॥

विवेचन—हर एक गुण को प्राप्त करने के लिये प्रथम मनःशुद्धि की आवश्यकता है। क्योंकि मनःशुद्धि हुए विना कोई भी अभ्यास फलीभूत नहीं होता, और न आत्मा निर्मल होता है। अहङ्कार, मद, मात्सर्य आदि दोषों को हटा देने से मन की शुद्धि होती है और मनःशुद्धि होने से यह आत्मा नम्रस्वभावी वनकर गुणानुरागी वनता है। जिसका हृदय अहंकार आदि दोषों से रहित नहीं है। तथा वैरविरोधों से दूषित वना रहता है उसका पढ़ना, तपस्या करना, दान देना, आदि

क्रियाएँ यथार्थ फलदायिका नहीं हो सकतीं। कहा भी है कि—

मन्त्र जपै अरु तन्त्र करै, पुनि तीरथ वर्त रहै भरमाए;
ग्रन्थ पढ़ै सब पन्थ चढ़ै, बहु रूप धरै नित वेष बताए।
योग करै अरु ध्यान धरै, चहे मौन रहै पुनि स्वास चढ़ाए;
शुद्धानन्द एको न सधै जबलौं चित चंचल हाथ न लाए॥

इसलिये जब तक अहंकार, परपरिवाद, वैर, कलह, और मात्सर्य आदि दोषों से मन को रोक कर परगुणानुरागी न बनाया जायगा तब तक पठन पाठनादि से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता।

संसार में मुख्यतया जितनी विद्याएँ या कलाएँ उपलब्ध हैं उनको पढ़ लिया, और शास्त्रावगाहन करने में सुरगुरु को भी चकित कर दिया, तथा वादविवाद करके अनेक जयपताकाएँ भी संग्रहीत करलीं, और दर्शनों की युक्ति प्रयुक्ति समझ कर सर्वमान्य भी बन गये, बहुत क्या कहें सार्वभौम पदाधिरूढ़ भी हो गये, परन्तु जो सब सुखों का कुल भवन एक गुणानुराग नहीं सीखा तो वे सब व्यर्थ हैं, क्योंकि ये सब योग्यताएँ गुणानुराग से ही शोभित होती हैं। अगर विद्या पढ़ने पर भी

दूसरों के दोप निकालने की खराब आदत न मिटी तो वह विद्या किस काम की ?, यदि तपस्या करने पर भी शान्तिभाव न आया तो वह तपस्या किस काम की ? और दान देने से आत्मा मे आनन्द न हुआ तो वह दान भी किस काम का ? अर्थात् सब कामो की सिद्धि गुणानुराग के पीछे होती है, इस लिये एक गुणानुराग महागुण को ग्रहण करने का ही विशेप प्रयत्न रखना चाहिये। क्योकि—गुणानुराग पूर्वक स्वल्प शिक्षण भी विशेप फल दायक होता है। लिखा भी है कि—

थोवं पि अणुट्ठाणं, आणपहाणं हणेइ पावभरे।
लहुओ रविकरपसरो, दहदिसितिमिरं पणासेई ॥१॥

भावार्थ—आज्ञा प्रधान थोड़ासा भी अनुष्ठान अनेक पापसमूहों का नाश करता है; जैसे—छोटा भी सूर्यकिरणो का जत्था (समूह) दश दिशाओं मे व्याप्त अन्धकार का विनाश करता है।

शास्त्रकारों के मत से धर्म का अभ्युदय, आत्मोन्नति, शासनप्रभावना आदि कार्यों मे सफलता जिनाज्ञा के विना नहीं हो सकतीं। जिनाज्ञा एक अमूल्य रत्न है, अत एव आज्ञा की आराधना

से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं और उसीके प्रभाव से सब जगह विजय प्राप्त होता है। यहाँ पर स्वाभाविक प्रश्न उठ सकता है कि–जिनेन्द्र भगवान् की सर्व-मान्य आज्ञा क्या है? इसका उत्तर यह है कि–

किं बहुणा इह जह जह, रागद्दोसा लहू विलिज्जंति।
तह तह पवट्टियव्वं, एसा आणा जिणिंदाणं॥१॥

भावार्थ—आचार्य महाराज आदेश करते हैं कि हे शिष्य! बहुत कहने से क्या लाभ है? इस संसार में जिस जिस रीति से राग और द्वेष लघु (न्यून) होकर विलीन हों, वैसी वैसी प्रवृत्ति करनी चाहिये, ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की हितकर आज्ञा है। अर्थात्–जिस प्रवृत्ति या उपाय से राग द्वेष की परिणति कम पड़े उसीमें दत्तचित्त रहना चाहिये। क्यों कि–"राग द्वेष दो बीज से, कर्मबन्ध की व्याध" अर्थात्—राग और द्वेष इन दोनों बीज से कर्म बंधरूप व्याधि होती है और नाना प्रकार के वैर विरोध बढ़ते हैं। इससे जिनेश्वरों ने सबसे पहले राग द्वेष को कम करने की आज्ञा दी है, किन्तु गुणानुराग विना, राग द्वेष कम नहीं होते और राग द्वेष के कम हुए विना आत्मा में किसी गुण का प्रभाव नहीं पड़ सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि–पढ़ना, तप करना, दान देना, क्रियाकाण्ड सॉचवना इत्यादि बातें तो सहज हैं, परंतु दूसरों के गुणों पर प्रमुदित हो उनका अनुमोदन करना बहुत ही कठिन बात है। इसमें कारण यह है कि–दूसरों के गुणों पर अनुरागी होना अभिमान दशा को समूल छोड़े विना नहीं बन सकता, किन्तु अभिमान को छोडना अत्यंत दुष्कर है। इससे गुणानुराग का धारण करना अति दुर्लभ माना जाता है, क्यों कि–गुणानुराग की सुगन्धि उसी जगह आं सकती है जहाँ अहंकार रूप दुर्गन्धि नहीं आती हो।

"बहुत पढ़ने, तपस्या करने और दान देने से क्या होने वाला है ?" ऐसा जो ग्रन्थकार ने उपदेश दिया है उसका उद्देश यह नहीं है कि–बिलकुल पढ़ना ही नहीं या तपस्या आदि करना नहीं, किन्तु वह गुणानुराग पूर्वक ही पठन पाठनादि करना चाहिये, क्यों कि–गुणानुराग से ही सब क्रियाएँ सफल होती हैं। इसलिये प्रथम अन्य क्रियाओ का अभ्यास न कर, एक गुणानुराग को ही सीखना चाहिये।

इसी विषय को ग्रन्थकार फिर दृढ़ करते हैं—

जइ वि चरसि तवविउलं,
पढसि सुयं करिसि विविहकट्ठाइं ।
न धरिसि गुणाणुरायं,
परेसु ता निप्फलं सयलं ॥ ५ ॥

यद्यपि चरसि तपोविपुलं, पठसि श्रुतं करोषि विविधकष्टानि ।
न धारयसि गुणानुरागं, परेषु ततो निष्फलं सकलम् ॥५॥

शब्दार्थ-(जइ वि) यद्यपि तूं (तवविउलं) बहुत तपस्या (चरसि) करता है, तथा (सुयं) श्रुत को (पढसि) पढ़ता है और (विविहकट्ठाइं) अनेक प्रकार के कष्टसाध्य कार्यों को (करिसि) करता है, परन्तु (परेसु) दूसरों के विषे (गुणाणुरायं) गुणानुराग को (न) नहीं (धरिसि) धारण करता है (ता) तिससे (सयलं) पूर्वोक्त सब परिश्रम (निप्फलं) निष्फल है।

विवेचन—गुणानुराग का इतना महत्त्व दिखलाने का कारण यही है कि इसके विना तप करने, श्रुत अर्थात्—शास्त्र पढने और अनेक कष्ट साध्य कार्यों के करने का यथार्थ फल नहीं मिलता और न दूसरे सद्गुणों की प्राप्ती ही होती है। अभिमान, आत्मप्रशंसा और ईर्षा; ये दोष हर एक अनुष्ठान के

शत्रुभूत हैं। संसार मे लोग घर, राज्य, लक्ष्मी आदि माल मिलकत छोड कर अनेक प्रकार के तपोऽनुष्ठान करने में अडग (निश्चल) बने रहते हैं, तथा स्वाधीन त्रियो के स्नेह को छोडना भी कुछ कठिन नहीं समझते, एवं व्याकरण–कोष–काव्य–अलङ्कार–न्याय–वेदान्त–आगम-निगम आदि शास्त्रों को पढ़ कर विद्वत्ता भी प्राप्त कर लेते हैं और अनेक कष्ट उठाते है परन्तु प्रायः अभिमान, स्वप्रशंसा, परनिन्दा और ईर्षा आदि दोषों को नहीं छोड सकते। यह बात कही हुई भी है कि–

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बडाई ईरषा, दुरलभ तजनी एह ॥ १ ॥

इसलिये अभिमान को छोड़ कर गुणानुराग पूर्वक जो अनुष्ठानादि क्रिया की जॉय, तो वे फलीभूत हो सकती है, क्यों कि–दूसरों के गणों पर अनुराग या उनका अनुमोदन करने से निर्गुण मनुष्य भी गुणवान् बन जाता है।

हर एक दर्शनकारों का मुख्य सिद्धान्त यह है कि अभिमान और मात्सर्य, [illegible] न्तोष आदि सद्गुणों के घातक और सत्यमार्ग,

कट्टर द्रोही हैं। अभिमान से गुणी जनों के सद्गुणों पर अनुरागी न बन कर दुर्गति के भाजन बनते हैं और इसीके आवेश में लोग दृष्टिरागी बनकर "मैं जो कहता हूँ या करता हूँ सोही सत्य है, बाकी सब असत्य है" ऐसी भ्रान्ति में निमग्न हो, विवेकशून्य बन जाते हैं।

दृष्टिराग से अन्धे लोग सत्य के पक्षपाती न बन कर असदाग्रह पर आरूढ़ रहते हैं अर्थात्—वीतराग भगवान् के वचनों का आदर न कर केवल अपनी पकड़ी हुई कल्पित बात को ही सिद्ध करने में दत्तचित्त रहते हैं और उसी की सिद्धि के लिये कुयुक्तियाँ लगा कर जिन वचन विरुद्ध कल्पित पुस्तकें निर्मित कर भद्र जीवों को सत्य मार्ग से भ्रष्ट करने में उद्यत बने रहते हैं। अभिमान के वश से दृष्टिराग में फसे हुए लोगों को चाहे जिस प्रकार से समझाया जाय परन्तु वे अपने असदाग्रह को छोडते नहीं है। प्रत्युत सत्य बातों को दूषित करने में सावधान रहते हुए सत्य मार्ग को स्वीकार नहीं करते, और न उनका अनुमोदन ही करते हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य स्वकृत 'वीतरागस्तोत्र' में लिखते हैं कि—

कामरागस्नेहरागा–वीषत्करनिवारणौ ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि ॥१॥

भावार्थ—कामराग, (विषय की अभिलाषा से स्त्री में रहा हुआ जो प्रेम) तथा स्नेहराग (स्नेह के कारण से पुत्रों के उपर रहा हुआ माता पिताओं का जो प्रेम) ये दोनों राग तो थोड़े उपदेश से निवारण किये जा सकते हैं, किन्तु दृष्टि-राग (स्वगच्छ में बंधा हुआ दुराग्रह–ममत्वभाव) तो इतना खराब होता है कि–सत्पुरुषों को भी छोड़ना कठिन है । अर्थात्–गच्छममत्त्व में पड़े हुए अच्छे अच्छे विद्वान्–आचार्य–उपाध्याय–साधु वर्ग भी अपना दुराग्रह शास्त्रविरुद्ध होते हुए भी उसे छोड़ते नहीं है और कुयुक्तियों के द्वारा सत्य बात का उपहास कर अनीतिमार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। दृष्टिराग से ही मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ-भावना का नाश होता है और लोग कलह में प्रवृत्त होते हैं तथा धर्म के रास्ते को भूल कर दुर्गति के भाजन बनते है किन्तु, सत्य धर्म को अंगीकार नहीं कर सकते ।

यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठेगा कि–दृष्टिराग तो दूसरे मतवालों के होता है, जैनों के तो नहीं ?

इसका उत्तर यह है कि जैन दो प्रकार के हैं-एक तो द्रव्यजैन और दूसरे भावजैन।

" द्रव्यजैन " वे कहे जाते हैं जो आन्तरिक श्रद्धा से नहीं, किन्तु परम्परा या रूढ़ि से धार्मिक व्यवहार साँचवते हैं, तथा जो कन्याविक्रय करते हैं, और जो अपने स्वधर्मियों का अपमान कर विधर्मियों की उन्नति करने में तत्पर रहते हैं, एवं जो लोक दिखाऊ या अपनी प्रशंसा के वास्ते धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, और जो अपनी वात रखने के लिये सद्गुरुओं की अवहेलना (तिरस्कार) करते हैं और जो अपने गच्छ के ममत्व में पड़ कर जाति या धर्म में विग्रह फैलाते हैं, और जो मद मात्सर्य आदि अनेक दुर्गुणों में लीन रहते हैं। वास्तव में द्रव्यजैन दृष्टिरागान्ध हो कर वास्तविक धर्म से पराङ्मुख रहते हैं।

" भावजैन " उनको कहते हैं जो अनन्त सुखात्मक जिनाज्ञाओं का पालन करते हैं, तथा कषायभाव से अपनी आत्मा को बचा कर हर एक कार्य में प्रवृत्त होते हैं, और निरपेक्ष हो कर गुणीजनों की प्रशंसा; जिनेश्वरों की आराधना और

सत्तत्त्वों का अभ्यास करते हैं, तथा जिह्वा को नियम में रख कर मधुर और सत्यवचन बोलते है; एवं किसी का मर्मोद्घाटन नहीं करते और जो आपत्ति काल में भी धर्म को नहीं छोड़ते और जो दुराचारियों की संगति छोड़ कर सबके साथ सम-भावपूर्वक उचित व्यवहार रखते है, तथा जो स्वधर्मी को अपने भाई से भी अधिक सन्मान देते हैं, और जो वैभव में मान अथवा दरिद्रता में दुःख लेशमात्र भी नहीं रखते, एवं जो शत्रु की भी निन्दा नही करते तथा जो अपनी सभ्यता का कभी त्याग नहीं करते।

भावजैनों का हृदय उदार, गंभीर और गुणा-नुरागसंपन्न होता है, इसीसे वे दृष्टिराग में न पड़ कर सत्समागम और सत्यमार्ग पर कटिबद्ध रहते हैं।

महानुभावो! शस्त्राकारो ने द्रव्यजैन और भावजैनों का स्वरूप अनेक प्रकार से प्रतिपादन किया है, यदि वह यहाँ लिख दिया जाय तो ग्रन्थ बहुत बढ़ जाने की संभावना है, इसलिये यहाँ संक्षेप से दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। वर्त्तमान समय में द्रव्यजैन प्रायः विशेष दिखाई देते है परन्तु बुद्धिमानों को चाहिये कि भावजैनत्त्व के गुणों को

धारण करें; क्योंकि भावजैनत्त्व के विना आत्मसुधार नहीं हो सकता, इससे कदाग्रह और आत्मश्लाघा को छोड़ कर गुणानुरागी वनो, और उत्तरोत्तर सद्गुणसंग्रह करने में प्रयत्नशील रहो, जिससे कि आत्मकल्याण होवे।

मात्सर्यदुर्गुण ही सर्वत्र पराभव का हेतु है—

सोउण गुणुक्करिसं, अन्नस्स करेसि मच्छरं जइ वि।
ता नूणं संसारे, पराभवं सहसि सव्वत्थ ॥ ६ ॥

(श्रुत्वा गुणोत्कर्षमन्यस्य करोषि मत्सरं यद्यपि।
ततो नूनं संसारे, पराभवं सहसि सर्वत्र ॥ ६ ॥)

शब्दार्थ—(जइवि) यद्यपि—जो तूँ (अन्नस्स) दूसरे के (गुणुक्करिसं) गुणों के उत्कर्ष को (सोऊण) सुन करके (मच्छरं) मात्सर्यभाव को (करेसि) धारण करता है (ता) तिससे (नूणं) निश्चय से (संसारे) संसार में (सव्वत्थ) सब जगह (पराभवं) पराभव को (सहसि) सहन करता है ॥६॥

भावार्थ—यदि गुणवानों के उत्तम गुणों को देख वा सुन कर अपने मन में मात्सर्यभाव को अवकाश देगा, तो तूँ सब जगह संसार में पराभव (निन्द्य-अवस्था) को सहेगा अर्थात्—प्राप्त होगा।

विवेचन–महात्माओं और गुणवान् पुरुषों की समृद्धि, विद्वत्ता, योग्यता और यशःकीर्त्ति अथवा अर्चना (पूजा) को देख वा सुन कर अपने हृदय में आकुलित (दुःखित) होने का नाम 'मात्सर्य' है। संसार में मात्सर्य–ईर्षालुस्वभाव ऐसा निन्दनीय दुर्गुण है, जो समग्र गुणो और उन्नतिमार्गों पर पानी फेर देता है, और सब जगह वैर विरोध बढ़ा कर निन्द्य अवस्था पर पहुँचा देता है।

सब दर्शनकारों का यही मन्तव्य है कि–भूमण्डलस्थित संपूर्ण विद्याओं और कलाओं को सीख कर ऐहिक (इस लोक संबन्धि) योग्यताओं को प्राप्त कर लो, परन्तु जब तक मुख से दूसरों की निन्दा, आन्तरिक मात्सर्य और दोषारोप आदि का अश्लील (लज्जाजनक) स्वभाव न मिटेगा तब तक वे ऐहिक योग्यताएँ सर्प की तरह भयङ्कर और पलालपुञ्ज की तरह असार–व्यर्थ ही हैं। यहाँ पर विचार करने से स्पष्ट जान पड़ता है कि–मत्सरी लोगों में जो ज्ञान, ध्यान, कला, आदि सद्गुण देखे जाते हैं वे केवल वाह्याडम्बर मात्र, निस्सार और अज्ञान रूप ही हैं. क्योंकि–मात्सर्ययुक्त मनुष्य अधम लोगों

की गणना में गिना गया है। इस से मत्सरी में जो गुण हैं, वे अधमस्वभाव से मिश्रित होने से अधमरूप (दोषदूषित) ही हैं। वास्तव में मत्सरी सदा दोष संग्राहक ही होता है, इसलिये कोई पुरुष चाहे जैसा गुणवान् और क्रियापात्र हो परन्तु वह उसमें भी दोषों के सिवाय और कुछ नहीं देखता।

जैसे काकपक्षी सरस और सुस्वादु जल व भोजन को छोड कर अत्यन्त दुर्गन्धि जल व भोजन के उपर ललचाता है। उसी प्रकार मत्सरी लोग गुणीजनों के उत्तम सद्गुणों पर अनुरागी न बन कर दोषारोप रूप अमेध्य भोजन और निन्दा रूप दुर्गन्धित जल की नित्य चाहना किया करते हैं।

कहा भी है कि—

प्रायेणाऽत्र कुलान्वितं कुकुलजाः श्रीवल्लभं दुर्भगाः,
दातारं कृपणा ऋजूननृजवो वित्ते स्थितं निर्धनाः।
वैरूप्योपहताश्च कान्तवपुषं धर्माऽऽश्रयं पापिनो,
नानाशास्त्रविचक्षणं च पुरुषं निन्दन्ति मूर्खाः सदा॥

भावार्थ—प्रायः इस संसार में अधम लोग कुलीनों (उत्तमपुरुषों) की, निर्भाग्य लोग भाग्यवानों की कृपण (सूम—कंजूस) लोग दाताओं की कुटिल

लोग सरलाशय वाले सत्पुरुषों की, निर्धन धनवानों की, रूप विहीन स्वरूपवानों की, पापीलोग धर्मात्माओ की और मूर्ख निरक्षर या मत्सरी लोग अनेक शास्त्रो मे विचक्षण (चतुर) विद्वानों की; निरन्तर निन्दा किया करते हैं।

मत्सरी लोगों का स्वभाव ही होता है कि वे पण्डित, गुणवान् और महात्माओं के साथ द्वेष रख, हर जगह उनकी निन्दा में तत्पर हो उसीमें अपना जीवन सफल समझते हैं। मत्सरी लोग मिटे हुए कलह को फिर से उदीर्ण करने में नहीं सरमाते। उन्हें संसारपरिभ्रमण करने का भी भय नहीं रहता इससे निर्भय होकर दुराचार में प्रवृत्त रहते हैं। वहुत लोग तो मत्सरभाव से धार्मिक झगडे खड़े कर कुसंप वढ़ाने मे ही उद्यत होने से इस भव में निन्दा के भाजन वनते हैं और परभवमे भी मात्सर्य के प्रभाव से अनेक दुःख भोगने वाले होते हैं, क्योंकि मात्सर्य करना भवभीरुओं का काम नहीं है किन्तु भवाभिनन्दियों का काम है। कहाभी है कि—

"क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः।
अज्ञो भवाभिनन्दीस्या–न्निष्फलारम्भसङ्गतः ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य क्षुद्र–निन्दाखोर हो, लोभान्ध हो, दरिद्र (धर्मोत्साह रहित) हो, मत्सरी हो, भयवान् हो, मायावी हो, अज्ञ (ज्ञानादि गुण से रहित) हो, और विफलारम्भ कार्य करने वाला हो; ये सब भवाभिनन्दी पुरुषों के लक्षण हैं।

भवाभिनन्दियों के अन्तःकरण में वैराग्य की वासना बिलकुल नहीं होती, इससे वे स्वार्थ और कपटलीला में विशेष निमग्न होकर मात्सर्य दुर्गुण के सेवन में ही सदा आनन्द मानते हैं। यद्यपि कोई बाह्यवृत्ति से नीति कुशलता का डोल बताता है परन्तु वह गुप्तपने अनीति का ही सेवन करता रहता है क्यों कि इसकी मनोवृत्ति दुष्ट और स्वार्थनिष्ठ बनी रहती है, इससे वह यथार्थ नीति-युक्त नहीं बन सकता, और न कोई कार्य में विजय पा सकता है।

मात्सर्यपरित्यागः—

अत एव प्रत्येक मनुष्य को इस महादुर्गुण को सर्वथा छोड़ कर गुणवानों के गुणों को देख वा सुन कर आनन्दित रहना चाहिये। सब से पहले हमारे धर्म गुरुवर्यों को उचित है कि—वे अपने

पूर्वाचार्यों की निष्पक्षपात बुद्धि, उनकी उत्तम शिक्षा और सहनशीलता का परिपूर्णरूप से अनुकरण कर श्रोतावर्ग में जो भवाभिनन्दी पन के दोष हैं उनको अपने नीतिमय उपदेशों और व्याख्यानों के द्वारा मूल से नष्ट करें, क्योंकि–धर्म की उन्नति का आधार, उस धर्म को पालनकरनेवाली प्रजा के नीतिसुधार पर निर्भर है, और उस नीति का सुधार होना धर्मगुरुओं के आधीन है। यद्यपि बोर्डिंगहाउस, स्कूल, पाठशाला आदिकों मे भी नीति का शिक्षण मिल सकता है परन्तु गुरुकुल मे जितना नीति शिक्षण का यथार्थ प्रभाव पड़ता है उतना दूसरी जगह नहीं। यह नियमसिद्ध बात है कि–जहाँ ईर्षा आदि दोषों का अभाव है और जहाँ स्वार्थ रहित हो परहित परायणता है; वहाँ पर अनीति मार्ग का अनुकरण स्वप्न में भी नहीं किया जायगा, और न वैसा शिक्षण ही दिया जायगा।

इसी वास्ते ग्रन्थकारों ने हर एक नीति का शिक्षण गुरुगम से प्राप्त करना उत्तम कहा है। परिपूर्ण विद्वान् होने पर भी गुरुगम्य–धार्मिक रहस्यो को अच्छी तरह नहीं जान सकता।

कहा भी है कि—

विना गुरुभ्यो गुणनीरधीभ्यो,
धर्मं न जानाति विचक्षणोऽपि ।
आकर्णदीर्घोज्ज्वललोचनोऽपि,
दीपं विना पश्यति नान्धकारे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्गुणरत्नों के रत्नाकर (समुद्र) गुरुवर्य की कृपा के विना बुद्धिमान मनुष्य भी धर्म को नहीं जान सकता है । जैसे-कोई मनुष्य बड़े बड़े निर्मल लोचन होने पर भी अन्धकार स्थित वस्तुओं को दीपक के प्रकाश के विना नहीं देख सकता ।

दीपक की तरह गुरुवर्य धार्मिक मर्मों को स्पष्टरूप से दिखाते हुए हृदय स्थित मिथ्यात्व रूप अन्धकार को नष्ट कर नीति का प्रकाश कर सकते हैं । श्रावकवर्ग में नीति का सुधार तभी हो सकता है कि-जब गच्छनायक परस्पर सहनशीलता और मैत्रीभाव को धारण कर सर्वत्र नीति मय उपदेश देवें और उसीके अनुसार उनसे वर्ताव करा कर उनको मात्सर्य से विमुख करें । क्यों कि—मात्सर्य दोष पराभव और अवनति का मुख्य धाम है, इसके विनाश किये विना उन्नति और विजय नहीं हो सकता । ईर्ष्या ही मनु-

ष्यो के उत्तम विचार, बुद्धि, सत्कार्य और उत्साह आदि को नष्ट कर देती है। जैनसमाज का वर्त्त-मान समय में जो अधःपतन हो कर प्रतिदिन ह्रास हो रहा है उसका मूल कारण ईर्ष्या ही है। पूर्व समय मे जो जो गच्छनायक थे वे एक दूसरे की उन्नति देख आनन्दित होकर परस्पर एक दूसरे के साहयक वनते थे, किन्तु ईर्ष्याभाव कोई किसी से नही रखता था, इससे उन्हों ने सर्वत्र धर्म की महोन्नति और धर्म प्रचार किया है।

महानुभावो! थोड़ा अपने पूर्वाचार्यों के किये हुए उन्नति मार्ग के कारणों को खोजो, और मात्सर्य के दुर्गण को विचार कर, छोड़ो तो तुम्हारा भी अभ्युदय शीघ्र ही होगा। यदि गुणवानों के गुणो को देख कर आनन्दित न होगे तो विशेष पराभव होगा और कहीं भी सुखशांति का मार्ग नहीं मिलेगा, प्रत्युत भवभ्रमण ही करना पड़ेगा।

मत्सर से की हुई निन्दा का फल—

गुणवंताण नराणं, ईसाभरतिमिरपूरिओ भणसि।
जइ कह वि दोसलेसं, ता भमसि भवे अपारम्मि॥ ७॥

गुणवता नराणामीर्ष्याभरतिमिरपूरितो भणसि।
यदि कथमपि दोषलेशं, ततो भ्रमसि भवेऽपारे॥

शब्दार्थ-(जइ) जो तूं (ईसाभरतिमिरपूरिओ) अत्यन्त ईर्षारूप अंधकार से पूरित अर्थात्-अंधा बन (गुणवंताण) गुणवान (नराणं) मनुष्यों के (दोसलेसं) थोडे भी दोषों को (कहवि) किसी प्रकार से (भणसि) बोलेगा (ता) तो (अपारम्मि) अपार (भवे) संसार में (भमसि) परिभ्रमण करेगा ।

विवेचन-मत्सरी मनुष्य दिनान्ध हो घुग्घूकी तरह सद्गुण रूपी सूर्य के प्रकाश को नहीं देख सकता, न सद्गुणों पर आनन्दित होता है, किन्तु दोषा (रात्रि) के समान दोषी के दोषों को देखा करता है, मात्सर्य के कारण गुणवान महात्माओं की निन्दा कर मत्सरी संसार भ्रमण का भाजन बनता है। ईर्ष्यालु मनुष्य अविवेकों से लिपट कर गुरु शिष्य के सम्बन्ध में, पिता पुत्र के संबन्ध में और सहोदरों में या जाति में कुसंपरूप वज्रपात किये विना नहीं रहता, अर्थात्-पूज्यवर्गों की आशातना या निन्दा करने से बिलकुल नहीं डरता, किन्तु जहाँ तक उससे बन पडता है, उनकी निन्दा कर महापातिकी बनता है, और हृदय की उदारता सुजनवर्ग से गुणप्राप्ती, गुणी-समागम आदि सन्मार्गों

से शीघ्र पतित हो जाता है। क्यों कि ईर्ष्या–दूसरो का खंडन, अपना मण्डन, दूसरों का अपकर्ष और अपना उत्कर्ष आदि को उत्तेजन करने की आकांक्षा वढाती है। जैसे–हाथी छाया का अर्थी होकर किसी वृक्ष का आश्रय लेता है और आश्रय (विश्राम) के वाद उसी वृक्ष को छिन्न भिन्न करने का उद्योग करता है, उसी प्रकार मत्सरी मनुष्य गुणी जनो के आश्रय मे रहकर भी उनको पतित करने में उद्यत वना रहता है, और हर एक तरह से उनको दूपित करने के जाल फेलाया करता है। संसार मे ऐसा कौन सद्गुण है जो कि मत्सरी लोगो से दूपित न किया गया हो ?।

कहा भी है कि—

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतव,
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्यं प्रियालापिनी।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्ति· स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ॥

भावार्थ–दुर्जन–मात्सर्यादि दोपसंपन्न लोग लज्जा संयुत पुरुप को जड़–मूर्ख कहते है, और व्रतधारक को दंभी–ठगोरा कहते हे, निर्मल आचार पालन

करनेवालों को धूर्त्त, पराक्रमी मनुष्य को निर्दयी–दयाहीन, सरल को बुद्धि हीन, प्रिय–मधुर हितकारी वचन बोलनेवालों को दीन, तेजस्वी को गर्विष्ठ–अभिमानी, बुद्धिमान् को वाचाल, स्थिर चित्तवाले को अर्थात्–संतोपी को अशक्त–शक्तिहीन कहते हैं। इसलिये संसार में गुणीजनों का ऐसा कौन गुण है जो मत्सरी लोगों के द्वारा दोषों से अङ्कित न किया जाता हो, किन्तु मत्सरी सब में कुछ न कुछ दोषाऽऽरोप करते ही रहते हैं।

मत्सरी–लोगों में प्राणी मात्र की हिंसा करना, जाति या धर्म में विग्रह खड़ा करना, परदुःख में आनन्दित होना, परस्त्रीगमन करना, गुणीजनों की निन्दा करना, असदाग्रह में तत्पर रहना, विद्वानों के साथ द्वेष रखना, गुणवानों की संपत्ति देख दुःखी रहना, परद्रव्य हरण करना, पापोपदेश देना; इत्यादि दुर्गुण स्वाभाविक होते हैं। इसी सबब से मत्सरी लोगों को दुर्जन, खल, दुष्ट, आदि शब्दों से शास्त्रकारों ने व्यवहार किया है।

लोक में उद्यम, साहस, धैर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, सदाचार, और परोपकार; आदि सद्गुणों

से मनुष्यों की प्रख्याति या प्रसंशा सर्वत्र होती है। परन्तु मत्सरी ज्यो ज्यों सत्पुरुष के गुणों का अनुभव करता जाता है, त्यों त्यों उसे अनेक दुःख सताने लगते हे, क्यो कि सद्‌गुणों का अभ्युदय ईर्ष्यालुओं के हृदय में कंटक के समान गुचा करता है। पीलिया रोगवाला मनुष्य सब वस्तुओं को पीले रंगवाली ही देखा करता है उसी तरह मत्सरी भी सद्गुणों को दोपरूप समझ कर हृदय-दग्ध बना रहता है और इसी आवेश में वह अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को व्यर्थ खो बैठता है, किन्तु उससे उत्तम गुण प्राप्त नहीं कर सकता।

इस लिए जो अपार संसार के दुःख से छूटना हो, तथा सर्वत्र अपना, या धर्म का अभ्युदय करना हो, और अनुपम सुख की चाहना हो तो गुणवानों के गुणों पर ईर्ष्या लाना, या दोपाऽऽरोप देना बिलकुल छोड दो, और मैत्री धारण कर सर्वत्र शान्ति प्रचार का उद्योग। करो क्यों कि–गुणवानों के दोप निकालने से, या उनका बुरा चाहने से बहुत खराबी होती है।

महानुभावो ! इस बात पर ध्यान दो और शान्त दृष्टि से विचारो कि–पुण्यशाली श्रीपाल राजा

के उत्तम गुणों और संपत्ति को सहन न करने से धवल सेठ अपनी कीर्ति, धनश्री और योग्यता से भ्रष्ट हो नरक का भागी बना और भाग्यशाली धन्नाजी के तीन भाई इसी मात्सर्य दोष के वश घर वार कुटुम्ब से विमुख हो अनेक दुःखों के पात्र बने हैं। कुटुम्ब और राज्य के सहित कौरवों का नाश भी इसी के प्रभाव से हुआ। बहुत क्या कहा जाय, जहाँ मत्सर का सेवन किया जाता है वहाँ लेशमात्र सुख नहीं है। अत एव मात्सर्य भाव का त्याग कर सब के साथ भ्रातृभाव धारण करो, और प्रत्येक प्राणियों के अवगुणों पर दृष्टि न डाल कर गुणानुरागी व गुणग्राही बनो, तभी महत्त्व बढेगा और सब प्रकार से उन्नति भी होगी।

मत्सरी–मनुष्य पलालपुंज से भी तुच्छ है—

जो जंपइ परदोसे, गुणसयभरिओ वि मच्छरभरेणं।
सो विउसाणमसारो, पलालपुंजु व्व पडिभाइ ॥ ८॥

यो जल्पति परदोषान्, गुणशतभृतोऽपि मत्सरभरेण।
स विदुषामशारः, पलालपुञ्जवत्प्रतिभाति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—(गुणसयभरिओ) सैकडों गुणों से युक्त होने पर (वि) भी (जो) जो कोई मनुष्य (मच्छरभरेणं) अधिक मत्सरभाव से (परदोसे)

दूसरों के दोष को (जंपइ) बोलता है (सो) वह (विउसाणं) विद्वानों के मध्य में (असारो) तुच्छ (पलालपुंजु व्व) पलालसमूह की तरह (पडिभाइ) शोभता है।

विवेचन—जो सब के साथ उचित व्यवहार रखता है, किसी की भी निन्दा नहीं करता, और सब का भला ही चाहता है वह चाहे मूर्ख ही क्यों न हो, परन्तु सब लोग उसका मैत्रीपूर्वक आदर करेंगे और जो कुछ वह कहेगा, उस को भी सादर मानेगे। यदि कोई मनुष्य सत्यवक्ता, विभव संपति और विचारोत्कर्ष आदि अनेक गुणयुक्त भी है परन्तु उसमे सहनशीलता नही है याने दूसरों का अभ्युदय देख दुःखी होने का, या दोषाऽऽरोप करने का स्वभाव विद्यमान है, तो वह गुणिजनों के बीच में मात्सर्य के कारण शोभा नहीं पा सकता, किन्तु सब जगह अनादर ही पाता है।

यदि मत्सरी पुरुष सत्य बात का शुद्ध उपदेश भी देता हो, तो भी लोग उस पर विश्वास नहीं लाते, क्योंकि—हजारों सद्गुणों को कलङ्कित करनेवाला मात्सर्य दुर्गुण उसमें भरा हुआ है। इसीसे उसका हितकर और मधुर वचन भी लोगों को अ-

रुचिकर हो जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु मत्सर के प्रभाव से मनुष्य स्वयं शरीर शोभा, राज्यसंमान, और योग्यता से भ्रष्ट होकर अत्यन्त दुःखी बन जाता है।

यहाँ पर एक 'धन्नूलाल' चौधरी का मात्सर्य पर दृष्टान्त बहुत ही मनन करने लायक है—

इस भरतक्षेत्र में 'श्रीपुर' नामका सब देशों में विख्यात एक नगर, किसी समय धनद की लक्ष्मी को लूटनेवाला और व्यापारोन्नति का मुख्य धाम था। वहाँ अनेक सौधशिखरी जिनमंदिरों की श्रेणियाँ शुद्धधर्म की ध्वजा फरका रहीथीं और जहाँ पंथियों के विश्राम के निमित्त अनेक धर्मशालाएँ बनी हुईं तथा याचक लोगों को निराश न होने के वास्ते अनेक दानशालाएँ खुली हुई थीं, और विपणि—हाट श्रेणियों की अपरिमित शोभा झलक रही थी और प्रायः जहाँ राजभवन से अनीति को देश निकाला दिया गया था, तथा जहाँ सद्गृहिणी—शौभाग्यवती स्त्रियों ने अपने पवित्र आचरणों से नगर की अद्भुत शोभा को विस्तृत की थी। ऐसे सुगुणसंपन्न उस 'श्रीपुर नगर' में नीतिनिपुण और सप्ताङ्ग राजलक्ष्मी से अलङ्कृत 'तत्त्वसिंह' नामका

राजा राज करता था। उसी नगर में राजमाननीय और वणिग्जाति में अग्रगण्य 'धन्नूलाल' नामक चौधरी रहता था।

किसी विदेशी सेठ ने लोगों के मुखद्वारा सुना कि 'श्रीपुर नगर' व्यापार का और राजनीति का केन्द्र है। अत एव वहाँ जाकर "यावद्बुद्धिबलोदयम्" व्यापार मे उन्नति प्राप्त करूं। ऐसा विचार कर अपने विनीत कुटुम्ब के सहित 'श्रीपुर' में आया और बीच बाजार में दुकान लेकर ठहरा। भाग्यवशात् अल्पकाल मे ही करोड़ों रुपये कमाये, इतना ही नही, किन्तु धन के प्रभाव से सव साहूकारो में मुख्य माना जाने लगा। यहाँ तक कि पंच पंचायती या पानड़ी वगैरा कोई भी कार्य इस सेठ को पूछे विना नही हो सकते थे। और राज्य मे भी इसका प्रभाव अच्छा जम गया, क्योंकि धन का प्रभाव ही इतना तीव्रतर है कि—धन सब योग्यताओं को वढ़ा कर प्रशस्य वना देता है। यथा—

" वन्द्यते यदवन्द्योऽपि, यदपूज्योऽपि पूज्यते।
गम्यते यदगम्योऽपि, स प्रभावो धनस्य तु ॥१॥"

भावार्थ—जो नमस्कार करने के योग्य नही

है वह नमस्कार करने योग्य बनता है, और जो अपूज्य है वह भी पूज्य बनता है, तथा जो अगम्य-परिचय के अयोग्य है वह परिचय करने योग्य बनता है; यह सब धन का ही प्रभाव है। अर्थात्-जो अटूट धनवान् होता है वह प्रायः कुलीन, पण्डित, श्रुतवान्, गुणज्ञ, वक्ता, दर्शनीय, वन्द्य, पूज्य, गम्य और श्लाघ्य समझा जाता है। बहुत क्या कहा जाय विद्यावृद्ध, राजा, महाराजा आदि सब लोग प्राय; धनी के आधीन रहते हैं।

अत एव उस विदेशी सेठ का प्रभाव सब जातियों और राज्य में परिपूर्ण रूप से जम गया, और सारे शहर में उसीकी प्रशंसा होने लगी।

परन्तु ' गाँव तहाँ ढेडवाडा होय ' इस कहावत के अनुसार जहाँ सज्जनों की बहुलता होती है, वहाँ प्रायः दो चार दुर्जन भी हुआ करते हैं। इसलिये सेठ का अभ्युदय देख ' धन्नूलाल ' चौधरी से रहा नहीं गया अर्थात्-सेठ के उत्तम गुणों का अनुकरण नहीं कर सका, किन्तु ईर्ष्या के आवेश में आ कर सेठ की सर्वत्र निन्दा करने लगा। लेकिन लोगों ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया, किन्तु प्रत्युत धन्नूलाल को ही फटकारना शुरू

किया, तब वह दीनवदन हो सेठ के छिद्रों का अन्वेपण करने में उद्यत हुआ, परन्तु जो लोग हमेशा दोषों से वच कर रहते हैं, और जो सदाचारशाली पुरुप कुमार्गों का अनुकरण ही नहीं करते, उनमें दोपो का मिलना वहुत कठिन है। धन्नूलाल शिर पीट पीट कर थक गया, तोभी सदाचारी सेठ के अन्दर वह किसी हालत में छिद्र नहीं पा सका।

एक दिन सेठने पिछली रात को निद्रावसान में विचार किया कि मैंने पूर्वभवोपार्जित पुण्योदय से इतनी लक्ष्मी प्राप्त की है, और सव में अपना महत्त्व जमाया है, इस वास्ते अव कुछ न कुछ सत्कार्य करना चाहिये, क्योंकि—सद्धर्ममार्ग में व्यय की हुई लक्ष्मी ही पुण्यतरु की वर्द्धिका है; जिन्होंने लक्ष्मी पाकर उन्नतिमय कार्य नहीं किये, उनका जीना संसार में व्यर्थ है। ऐसा विचार कर सेठने निश्चय कर लिया कि—अच्छा दिन देख के सकुटुम्व शत्रुंजय महातीर्थ की यात्रा करनी चाहिये।

तदनन्तर शुभ दिन, वार और नक्षत्र देखकर सेठने सकुटुम्व यात्रा के लिये प्रयाण किया। सव लोग गाँव के वाहर तक पहुँचाने आये। इस अव-

सर में धन्नूलालने 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' इस वाक्य का अनुकरण कर विचारा कि—आज कोई अपशुकन हो जावे तो ठीक है, जिससे सेठ यात्रा न कर सके। परन्तु सेठ के भाग्योदय से सब शुभ शकुन ही हुए। तब धन्नूलाल शीघ्र स्वयं अपनी नाक काट कर सेठ के सम्मुख आया, उस समय साथ के लोग बोले शेठ साहब! आज शकुन खराब मालूम होते हैं इससे प्रयाण करना अच्छा नहीं है। कहा भी है कि—

मद्पानी पागल पुरुष, नकटा संमुख आय।
खोडा भूखा बाँझनी, न करहु गमन कदाय॥

भावार्थ—अगर दारू का घड़ा, पागल, नकटा, लूला, भूखे मरता मनुष्य और बाँझनी स्त्रियाँ गमन करते समय सामने मिल जावें, तो पीछे लौट आना ही हितकर है, किन्तु आगे जाना ठीक नहीं है।

इस बात को सुनते ही सेठ सकुटुम्ब पीछा चला आया, और शोचा कि—फिर दूसरे दिन अच्छा शकुन देख कर प्रयाण करूंगा। इधर चौधरी भी आनन्द मनाता हुआ साम को बाजार में आया, तब उसे नकटा देख कर सब लोग उप-

हास करने लगे और सब जगह वह तिरस्कार दृष्टि से देखा जाने लगा। क्यों कि-संसार में अत्यन्त सफाई से बोल कर उद्वेग करनेवाला, हास्य से मर्मों का उद्‌घाटन करनेवाला, सद्‌गुणविहीन और गुणिजनों का निन्दक मनुष्य करौती के समान माना जाता है। अर्थात्-इस प्रकार का मनुष्य किसी का प्रिय नहीं रहता है।

'धन्नूलाल' को निन्दक, मत्सरी, और दुष्टस्वभावी जान कर लोगोंने उस को जातिवाहिर किया, और राजा के द्वारा उस विदेशी सेठ को नगरसेठ की उपाधि से अलंकृत कराया।

पाठकवर्ग! मात्सर्य स्वभाव के दोषों को भले प्रकार विचार पूर्वक छोड़ो और अपनी आत्मा को गुणानुरागी वनाओ। यदि गुणसंपन्न होने पर भी दूसरों के गुण का ग्रहण नहीं करोगे तो सर्वत्र तुमको निन्द्य अवस्था प्राप्त होने का अवसर आवेगा और धर्म की योग्यता से पराङ्‌मुख रहना पड़ेगा। क्योंकि-मत्सरी मनुष्य धर्मरत्न की योग्यता से रहित होता है। किन्तु धर्मरत्न के योग्य वही पुरुष है जो निम्नलिखित सद्‌गुणसंपन्न हो-

१अक्षुद्र—गंभीरबुद्धिवाला हो, क्योंकि—गंभीर मनुष्य मद मात्सर्य से रहित हो धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ कर दुर्गुणों से अपनी आत्मा को बचा सकता है।

२ रूपवान्—सर्वाङ्ग सुन्दर मनुष्य धर्म के योग्य होता है, क्योंकि—'यत्राकृतिस्तत्रगुणाः वसान्ति' अर्थात्—जहाँ पर सुन्दर मनोहर आकृति हो वहाँ पर गुण निवास करते हैं। अत एव रूपहीन मनुष्य प्रायः धर्म के योग्य नहीं हो सकता।

कहा भी है कि—जिसके हाथ रक्त हों वह धनवन्त, जिसके नीले हो वह मदिरा पीनेवाला, जिसके पीले हो वह परस्त्रीगमन करनेवाला, जिसके काले हो वह निर्धन होता है। और जिसके नख श्वेत हों सो साधु, जिसके हाड़सदृश नख हों सो निर्धन, जिसके पीले नख हों सो रोगी, पुष्प के समान नखवाला दुष्ट स्वभावी, और व्याघ्रसदृश नख-वाला क्रूर होता है; जिसके नख पतले हों वह पुरुष सब का राजा, गुणवान्, दीर्घायु और गुणानुरागी होता है। जिसका स्कन्ध ऊँचा हो वह राजमान्य और यशः कीर्त्ति का पात्र बनता है, जिसकी ना-

सिका ऊँची और सुशोभित हो वह सबका उपकारक तथा जगन्मान्य होता है, जिसका मस्तक ललाट, आदि अवयव विस्तीर्ण और मानोपेत हो वह शूरवीर, सौभाग्यवान, सब के साथ मित्रता रखनेवाला, और सब का उद्धारक होता है।

इसलिये कहा जाता है कि—उत्तमलक्षण संपन्न सर्वाङ्ग सुन्दर रूपवान् मनुष्य ही धर्म की योग्यता को प्राप्त कर सकता है, और वही पुरुष दूसरों की आत्मा में धर्म का प्रतिभास करा सकता है क्योंकि—प्रायः देखने में आता है कि जैसी आकृतिवाला उपदेश देता है वैसा ही उसका दूसरों पर प्रभाव पडता है, यदि काला कुरूपी अन्धा उपदेश करे तो लोगों के चित्त पर अच्छा असर नहीं पड़ता ।

३ प्रकृतिसौम्य—सुन्दरस्वभाववाला धर्म के योग्य होता है । अर्थात्—पापकर्म, आक्रोश, वध, और चोरी आदि करने का स्वभाव जिसका नहीं होता, वह पुरुष अपने शान्तस्वभाव से सब प्राणियों को आनन्दोत्पन्न करानेवाला हो सकता है, इसलिये धर्मरत्न की योग्यता प्रकृतिसौम्य पुरुष को ही प्राप्त होती है ।

४ लोकप्रिय—संसार में जो लोकविरुद्ध कार्य हैं उनको छोडनेवाला पुरुष, लोगों में प्रियपात्र वन कर गुणग्राही वन सकता है। इहलोकविरुद्ध १, परलोकविरुद्ध २ और उभयलोकविरुद्ध ३ यह तीन प्रकार की विरुद्धताएँ हैं।

परापवाद, धार्मिक पुरुषों का हास्य, पूज्यवर्ग में ईर्ष्या, सदाचार का उल्लंघन, दाताओं की निन्दा और सत्पुरुषों को दुःख में डालने का प्रयत्न करना इत्यादि ' इहलेकाविरुद्ध ' कहा जाता है।

परलोकविरुद्ध वह है कि—पन्द्रह कर्मादान का व्यापार करना, यद्यपि व्यापार करना लोकविरुद्ध नहीं है तथापि हिंसक व्यापारों के करने से परलोक में सद्गति की प्राप्ति नहीं हो सकती, इससे हिंसक व्यापारों का करना ' परलोकविरुद्ध ' है

जिनकार्यों के करने से इस लोक में निन्दा और परलोक में दुर्गति के दुःख प्राप्त हों उसे उभयलोकविरुद्ध कहते हैं। जैसे जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्या गमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री से संभोग करना, इत्यादि कार्य लोक में निन्द्य, तथा तिरस्कार जनक, और दुःख के दाता हैं। कहा भी है कि—

इहैव निन्द्यते शिष्टैर्व्यसनासक्तमानसः ।
मृतस्तु दुर्गति याति, गतत्राणो नराधमः ॥ १ ॥

भावार्थ–व्यसनों में आसक्त मनुष्य इसी लोक में सत्पुरुषों के द्वारा निन्दा का भाजन बनता है और वह नराधम अशरण हो मर कर दुर्गति को प्राप्त होता है । अतएव व्यसनों का सेवन करना ' उभयलोकविरुद्ध ' है ।

इसलिये लोक विरुद्ध कार्यों का त्याग करने-वाला सब का प्रिय बनता है और लोक प्रिय मनुष्य का ही सदुपदेश सब के ऊपर असर कर सकता है ।

५ अक्रूरता–मद, मात्सर्य, आदि दोषों से दूषित परिणाम वाला पुरुष धर्म का आराधन भले प्रकार नही कर सकता, इस लिये सरलपरिणामी मनुष्य ही धर्म के योग्य हो सकता है । क्योंकि–सरलस्व-भाववाला मनुष्य किसी के साथ वैर विरोध नहीं रखता, यहाँ तक कि वह अपने अपराधी पर भी क्षमा करता है, इससे उसको धार्मिक तत्त्व सुग-मता से प्राप्त हो सकता है ।

६ भीरुता–पापकर्मों से डरते रहने को भीरुता

कहते हैं। जिन कार्यों के करने से राजदंड, लोक में निन्दा, और परलोक में कुत्सितगतियों की प्राप्ति होती हो, वैसे कार्यों का त्याग करनेवाला मनुष्य सुखों का भाजन वनता है। क्योंकि—भीरु मनुष्य भवभ्रमण से डरता हुआ असद् व्यवहार में प्रवृत्त नहीं होता, इसीसे उसको सद्गति प्राप्त होती है।

९ अशठता—निष्कपट भाव रखना, अर्थात्—प्ररूपणा, प्रवर्त्तना और श्रद्धा इन तीनों को समान रखना, सो 'अशठता' कहाती है। जिसकी रहनी कहनी समान होती है वही पुरुष अनेक गुणों का पात्र वनता है। जो लोग कपटपूर्वक हरएक धर्मक्रिया में प्रवृत्त होते हैं वे धर्म के वास्तविक फल को नहीं प्राप्त कर सकते कपट क्रिया धर्म की हानि करने वाली होती है, अतएव कपटरहित मनुष्य ही धर्म के योग्य है।

८ सुदाक्षिण्य—दूसरों को तिरस्कार करने का स्वभाव नहीं रखना, किन्तु परोपकार—परायण ही रहना। जो काम इस लोक और पर लोक में हितकारक हों उस में प्रवृत्ति रखना तथा किसी मनुष्य की प्रार्थना का भंग नहीं करना। उसको 'सुदाक्षिण्य' कहते हैं। दाक्षिण्य गुणसंपन्न पुरुष अपने सदुपदेशों द्वारा सब का भला

चाहता रहता है, किन्तु किसी को दुःख में डालने की योजना नहीं करता, इससे वह धर्म के योग्य हो सकता है।

९ लज्जालु—देशाचार, कुलाचार और धर्म से विरुद्ध कार्य में प्रवृत्त न होनेवाले को लज्जालु कहते हैं अर्थात्—मरणान्त कष्ट आ पड़ने पर भी स्वयं की हुई प्रतिज्ञा का भंग नही करना। लज्जावान् मनुष्य हजारों विपत्तियॉ होने पर भी अकार्य में प्रवृत्त नहीं होता, इससे वह धर्म के योग्य हो सकता है।

१० दयालुता—सब जीवों के ऊपर करुणाभाव रखना, और जो हीन दीन दुःखी जीव हैं, उनके दुःख हटाने का प्रतीकार करना 'दयालुता' कहाती है। दयालु स्वभाववाला ही मनुष्य धर्म के योग्य है। सर्वज्ञ भगवन्तों ने अहिंसा धर्म को सब से उत्तम बताया है। जैसे पर्वतो मे मेरु, देवताओं मे इन्द्र, मनुष्यों में चक्रवर्त्ती, ज्योतिष्को मे चन्द्र, वृक्षों में कल्पवृक्ष, ग्रहों मे सूर्य, जलाशयों मे सिन्धु, और देवेंन्द्रो मे जिनराज उत्तम है उसी प्रकार समस्त व्रतो में श्रेष्ठ पदवी को अहिंसा ही प्राप्त करती है अर्थात् अ-

हिंसा ही सर्व से उत्तम है। क्यों कि जिस धर्म में दया नहीं वह धर्म ही नहीं है,

दयालु पुरुप ही सर्वत्र समदृष्टी होने से आदेयवचन, पूजनीय, कीर्त्तिवान, परमयोगी और परोपकारी आदि शब्दों से श्लाघाऽऽस्पद होता है, और महात्मा गिना जाता है। क्योंकि दयालु मनुष्य के पास धर्मेच्छु लोग निर्भय होकर धर्म प्राप्त करते हैं; जव कि शान्ति में लीन योगिराजों को इतर जीव देखते हैं तव वेभी जन्म–जात वैरभाव को जलाञ्जलि दे देते हैं, इसलिये दयालुस्वभाव ही धर्म की योगता को वढा सकता है। जिस प्रकार शस्त्ररहित सुभट, विचारहित मन्त्री, नायक रहित सेना, कलाशून्य पुरुप, ब्रह्मचर्यरहीन व्रती, विद्याहीन विप्र, गन्धहीन पुष्प, पतितदन्त मुख और पातिव्रत्यधर्मरहिता स्त्री, शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, उसी प्रकार दयालुस्वभाव के विना शुद्धधर्म की शोभा नहीं हो सकती।

११ मध्यस्थसौम्यदृष्टि–पक्षपात और रागद्वेष रहित दृष्टि रखना अर्थात्–सव मतों में से 'कनक परीक्षानिपुणपुरुषवत्' सद्वस्तु को ग्रहण करना, किन्तु किसीके साथ राग द्वेष नहीं रखना 'मध्यस्थ सौम्य-

दृष्टि गुण' कहाता है। इस गुणवाला मनुष्य सौम्यता से ज्ञानादि सद्गुणो को प्राप्त और गुणो के प्रतिपक्षभूत दोषों को त्याग कर सकता है, अतएव मध्यस्थ स्वभावी और सौम्यदृष्टि पुरुष ही धर्म के योग्य है।

१२ गुणानुरागी—गुणिजनों के गुण पर हार्दिक प्रेम रखना, और गुणवान—साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, और सन्मार्गानुसारी पुरुषो का बहुमान करना, यहाँ तक कि अपना अपकारी भी क्यों न हो, किन्तु उसके ऊपर भी द्वेषवुद्धि नहीं लाना, 'गुणानुरागी' कहाता है। इस लिये गुणानुरागी हुए विना पुरुष धर्मके योग्य नहीं हो सकता है।

१३ सत्कथक—वैराग्यभाव को उत्पन्न करनेवाली तीर्थंकर, गणधर, महर्षि और उत्तमशीलसंपन्न सतियों आदि की कथा कहनेवाला पुरुष धर्म करने के योग्य होता है। क्योंकि धार्मिक कथानुयोग के ग्रन्थ और सत्पुरुषों के जीवन चरित्र वाँचने से उत्तमता, सहनशीलता आदि सद्गुणों की प्राप्ती होती है, इसीलिये विकथाओं का त्याग करनेवाला पुरुष भी धर्म के योग्य हो सकता है। अतएव सत्कथी पुरुष जिनसे कर्म का बंधन होता हो, ऐसी शृंगार

आदि की कथाओं से विलकुल अलग रहता है, इस से उसको कर्मवन्धन नहीं होता ।

१४ सुपक्षयुक्त–जिसका कुटुम्ब परिवार और मित्रवर्ग सदाचारी, गुणानुरागी, सुशील और धर्म-परायण, तथा सत्संगी हो, वह सुपक्षयुक्तगुणवाला पुरुष कहा जाता है। सुपक्षवाला पुरुष धार्मिक क्रियाओं को और सद्गुणों को निर्विघ्नता से प्राप्त कर सकता है, क्योंकि–अपने सदाचारी समुदाय के वल से वह अनेक गुणों को प्राप्त करता हुआ अन्य मनुष्यों को भी धर्मविलासी वना सकता है।

१५ दीर्घदर्शिता–जिस कार्य का भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में सुन्दर परिणाम हो, वैसा कार्य करना, और जिस कार्य की सज्जन लोग निन्दा करें, अथवा जिसका परिणाम (फल) उपहास या दुःखका कारक हो उसका परित्याग करना। दीर्घदर्शिता कहाती है। दीर्घदर्शी पुरुष ही अपनी उत्तमता से उभयलोक में प्रशंसा का पात्र बनकर सुखी होता है।

१६ विशेषज्ञता–वस्तुधर्म के हिताऽहित, सत्याऽसत्य, तथा साराऽसार को जानकर गुण और दोष की परीक्षा करना । विशेषज्ञता कहाती है । विशेषज्ञ (विवेकवान्) पुरुष

आग्रह को छोड़ कर निष्पक्षपात बुद्धि से सत्यमार्ग में अपनी श्रद्धा को स्थापित करता है, इससे उसका आत्मा दुर्गति का भाजन नहीं बन सकता।

१७ वृद्धानुग–सदाचारी, विवेकवान् उत्तम पुरुषों के मार्गानुसार वर्त्तना, अर्थात् अशुभाचार और दुर्गतिदायक कार्यों को छोड कर पूर्वाचार्यों के उत्तममार्ग में प्रवृत्ति करना वह 'वृद्धानुग' गुण कहा जाता है। शिष्ट पुरुषों की परंपरा के अनुकूल चलनेवाला पुरुष उत्तमोत्तम सद्गुणों का पात्र बनता है, क्योंकि–उत्तमाचरण से अधम मनुष्य भी उत्तम बन सकता है, अतएव शिष्ट पुरुषों के मार्ग पर चलनेवाला ही धर्म के योग्य हो सकता है।

१८ विनयवान्–माता, पिता और धर्माचार्य तथा श्रीसंघ आदि पूज्य पुरुषों की आदर से सेवा भक्ति करना, और पूज्यवर्गों की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करना और नम्र स्वभाव से बरतना वह 'विनय' गुण कहा जाता है।

विनयवान् मनुष्य बहुत शीघ्र उत्तरोत्तर सद्गुणों को प्राप्त करता है,। देखिये विनय के द्वारा तपस्वियों को पुण्य प्राप्ती होती है, सुखाभिलाषी पुरुषों के लिये संपदा अनुकूल होती है, और योगी

लोगा के लिये भी मुक्ति का परिणाम प्राप्त होता है, फिर कहिये विनय-पूज्यपुरुषों को, या किसी भी पुरुष को प्रिय क्यों न हो ?। विनीत शिष्यों को ही गुरुमहाराज शास्त्रों और परंपरागत सामाचारियों के भेद (रहस्य) वतलाते हैं, विनीतपुत्रों को ही मा वाप शुभाशीर्वाद देकर कृतार्थ करते हैं। इसीसे कहा जाता है कि-विनय से ज्ञान, ज्ञान से दर्शन, दर्शन से चारित्र, और चारित्र से मोक्ष (सदा शाश्वत सुख) प्राप्त होता है। जहाँ विनय का अभाव है वहाँ धार्मिक तत्त्वों की प्राप्ति नहीं हो सकती, और न कोई सद्गुण ही मिल सकता है, अतएव विनयवान् पुरुष ही धर्म के योग्य होता है।

१९ कृतज्ञता-उपकारी पुरुषों के उपकारों को नहीं भूलना कृतज्ञता कहाती है। प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि-निरन्तर कृतज्ञ गुणको धारण करें, किन्तु कृतघ्न नहीं वनें। जो लोग कृतज्ञ होते हैं उनकी प्रशंसा होती है, और सव कोई उनके सहायक वनते हैं। संसार में माता पिता, कलाचार्य (विद्यागुरु) और धर्माचार्य आदि परमोपकारी कहे जाते हैं।

माता पिता अनेक कष्ट उठा कर बचपन में पालन पोषण करते हैं, और सुख दुःख में सहायक बनते हैं।

कलाचार्य–पढ़ना, लिखना, व्याख्यान देना, वाद विषयक ग्रन्थो की युक्ति वताना, सांसारिक व्यवहार सिखाना इत्यादि शिक्षाओं को देकर उत्तमता की सीढ़ी पर चढाते हैं।

धर्माचार्य–धर्म और अधर्म का वास्तविक स्वरूप दिखला कर धर्ममार्ग मे स्थिर करते हैं, और दुर्गतिदायक खोटे मार्गों से वचाकर सुखैषी वनाते है।

इसलिये इन पूज्यपुरुषो के उपकार को कभी भूलना नही चाहिये। जो पुरुष इनके उपकारो को भूल जाता है, वह कृतघ्न कहलाता है, और वह सर्वत्र ही निन्दा का पात्र वनता है। मनुष्यो को चाहिये कि–पूर्वोक्त उपकारी पुरुषों की शुद्धान्तःकरण से सेवा करते रहें, और वे जो आज्ञा देवे उसके अनुसार चलते रहे, तथा ऐसा कार्य कभी न करें कि जिससे उनके कुल और कीर्त्ति को लाञ्छन लगे।

यों तो जन्म पर्यन्त सेवा करने पर भी मा वाप कलाचार्य और धर्माचार्य के उपकार रूप ऋण से मुक्त कोई नहीं हो सकता, परन्तु वे यदि विधर्मी हो, या धर्म में उनको किसी तरह की वाधा पडती हो, तो उसको मिटाकर शुद्धधर्म में स्थिर

किये जावें तभी उपकाररूप ऋण से मुक्त होना संभव है। अतएव कृतज्ञगुणसंपन्न मनुष्य ही धर्म के योग्य हो सकता है, न कि कृत उपकारों को भूलने वाला।

२० परहितार्थकारी—हीन, दीन, दुःखी, और संसारदावानल से संतप्त प्राणियों का भला करने-वाला पुरुष धर्म के योग्य अवश्य होता है, क्योंकि पराहितकरना यही मनुष्यों का यथार्थ धर्म है, जो लोग अनेक विपत्तियाँ सहकर भी परहित करने में कटिवद्ध रहते हैं, उन्हीका जीवन इस संसार में सफल गिना जाता है।

इस संसार में कई एक मनुष्य नानाभाँति के भोजन करने में, कई एक सुगन्धित फूलमालाओं में, कई एक शरीर में चोवा चन्दन वगैरह द्रव्य लगाने में, रसिक होते हैं और कई एक गीत (गान) सुनने के अभिलाषी रहते हैं, कई एक द्यूत, विकथा मृगया, मदिरापान, आदि व्यसनों में आसक्त होते हैं, कई एक नृत्यादि देखने के उत्साही रहते हैं, कई एक घोड़ा, रथ, हाथी, सुखपाल आदि पर सवार होने में अपना जीवन सफल समझते हैं, परन्तु वे धन्यवाद देने योग्य नहीं है। धन्यवाद के योग्य तो वे ही सत्पुरुष हैं, जो निरन्तर परहित करने में लगे

रहते हैं। परहित करनेवाला पुरुष दूसरों का हित करता हुआ वास्तव मे अपना ही हित करता है, क्योंकि जब वह दूसरों का भला करेगा, और दूसरे जीवो के दुःख को छुड़ा कर सुखी करेगा, तब वे जीव उसको हार्दिक शुभाशीर्वाद देगे, जिससे उस का भी भला होगा। परहितार्थकारी मनुष्य महासत्त्ववाला होता है, इससे उसमे परोपकार तत्परता, विनीतता, सत्यता, मन की तुच्छता का अभाव, प्रतिदिन विद्या का विनोद, और दीनता का अभाव इत्यादि गुण स्वभाविक होते हे।

जिस मनुष्य ने यथाशक्य भी दीनो का उद्धार नहीं किया, स्वधर्मी भाईयों को सहायता नहीं दी, और जिनेन्द्र भगवान् का स्मरण सच्चे दिलसे नहीं किया. उनका जन्म व्यर्थ ही हे। अतएव ससार में मनुष्य जन्म पाकर जहाँ तक बन सके सबका हित करने में उद्यत रहना चाहिये, जिससे अपनी आत्मा का उद्धार और जीवन की सफलता हो।

२१ लब्धलक्ष—ज्ञानावरणीय कर्म के कम होने से गहन से गहन शास्त्रीय विषयों और नीति वाक्यों को शीघ्र जान लेना अर्थात्—प्रतिजन्म में किये हुए

अभ्यास की तरह हरएक वात को समझ लेना 'लब्धलक्ष' कहलाता है। लब्धलक्षगुण संपन्न मनुष्य को हरएक बात समझाने में परिश्रम नहीं उठाना पड़ता, और थोड़े परिश्रम में वहुत समझाया जा सकता है, इसलिये इस गुणवाला पुरुष सुशिक्षणीय होने से अल्प समय में धार्मिक तत्त्वों का पारगामी हो जाता है और इसीसे वह धर्म के योग्य भी होता है, किन्तु मत्सरी इस गुण से रहित होने से धर्म के योग्य नहीं होता।

पाठकगण! पूर्वोक्त सद्गुणोंवाला मनुष्य अपनी योग्यता से धार्मिक रहस्यों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ईर्ष्यालु मनुष्यों में पूर्वोक्त सद्गुणों का विलकुल अभाव होता है, इससे वह धार्मिक रहस्यों की प्राप्ति से शून्य रहता है। अतएव बुद्धिमानों को अपनी योग्यता बढ़ाने के लिये मात्सर्य दुर्गुण को सर्वथा छोड़ ही देना चाहिये।

इस भव में किये हुए अभ्यास के अनुसार गुण या दोषों की परभव में भी प्राप्ती होती है—

जं अब्भसेइ जीवो, गुणं च दोसं च इत्थ जम्मम्मि।
तं परलोए पावइ, अब्भासेणं पुणो तेणं ॥९॥

यमभ्यसेज्जीवो, गुणं च दोष चाऽत्र जन्मनि ।
त परलोके प्राप्नोत्य-भ्यासेन पुनस्तेन ॥ ९ ॥

शब्दार्थ-(जीवो) आत्मा (इत्थ) इस (जम्मम्मि) जन्म के विषे (जं) जिस (गुणं) गुण (च) और (दोसं च) दोष का (अब्भसेइ) अभ्यास रखता है-सीखता है (तेणं) उस (अब्भा-सेणं) अभ्यास से (तं) उस गुण और दोष को (परलोए) परलोक में (पुणो) फिर (पावइ) पाता है ।

भावार्थ-यह आत्मा इस जन्म में जिन गुण और दोषों का अभ्यास रखता है, उन्हीं को भवा-न्तर में भी पाता है । अर्थात् इस जन्म मे किये हुए अभ्यास के अनुसार अन्यजन्म में भी गुण और दोष का भाजन बनता है ।

विवेचन-स्मृति पथ में दृढ़ीभूत करने के लिये एक वस्तु को वार वार याद करते रहना, अर्थात् इष्ट वस्तु की पूर्णता प्राप्त करने के लिये एक या अनेक क्रिया का अवलंवन करने का नाम 'अभ्यास' है । यह एक साधारण नियम भी है कि-

" करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान ।
रसरी आवत जावते, शिलपर परत निसान ॥ "

जैसे-वार वार कुए पर रस्सी के आने जाने से पत्थर ऊपर निसान पड़ जाता है, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य भी अभ्यास को करते करते विद्वान् वन जाता है।

कई जगह सुना जाता है कि-अमुक मनुष्य मूर्खकुल में उत्पन्न होकर अभ्यास के करने से सर्वत्र प्रतिष्ठा पाकर एक नियन्ता वन गया। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है कि-अभ्यास के आगे कोई कार्य दुःसाध्य हो, क्योंकि-अभ्यास की प्रवलता से निर्वल बलवान्, निर्गुणी गुणवान्, निर्धनी धनवान्, मूर्ख विद्वान्, सरागी वीतराग वन जाता है, अतएव यदि मनुष्य सच्चे मन से धार ले तो तीन भुवनपति-योगीन्द्र वन सकता है, अभ्यास के जरिये वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति होते देर नहीं होती, इसीसे कहा जाता है कि-'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहाति' अर्थात्-अभ्यास संसार में सव कुशलता को परिपूर्ण रूप से धारण करता है। जो लोग अभ्यास के शत्रु हैं वे लोग अभागी हैं, उन्हें किसी सद्गुण की प्राप्ति नहीं हो सकती, और न वे किसी उन्नाति मय मार्ग पर आरूढ़ हो सकते हैं।

अभ्यास-टेव पाडना, परिचय करना, गिनती

करना, भावना–पुनःपुनः परिशीलन (विचार) करना।

अभ्यास से ही सकलक्रिया में कुशलता प्राप्त होती है, यह बात लिखना, पढ़ना, गिनना, नृत्य-करना, वगैरह सर्व कलाओं में अनुभव सिद्ध है । कहा है कि–अभ्यास से ही संपूर्ण कला और क्रिया आती हैं, तथा अभ्यास से ही ध्यान मौनव्रत आदि क्रियाएँ सहज में कर सकते हैं, अभ्यास से कौन बात होना कठिन है ? । निरन्तर विरति परिणाम का अभ्यास करने से परलोकगमन होने पर भी अभ्पास का संस्कार जमा रहता है ।

इस पर शास्त्रकारों ने अनेक उदाहरण दिये है । लेकिन यहाँ एक दो उदाहरण (दृष्टान्त) दिखाये जाते हैं कि—

" एक अहीर अपनी गौ के बच्चे को उठा कर नित्य जंगल में ले जाया करता था और शाम को फिर घर लाता था। इसी तरह अभ्यास करते करते दो तीन वर्ष के बैल को भी वह अहीर उठा कर ले जाता और ले आता था । "

" एक राजकुँवर हाथी के बच्चे को प्रातः समय उठ कर निरन्तर उठाया करता था, इसी तरह

नित्य उठाने का अभ्यास करने से वह बड़ा होने पर भी उस हाथी को हाथों में ऊँचा उठा लेता था"

इसी से कहा जाता है कि–अभ्यास से सब कुछ सिद्ध हो सकता है।

अभ्यास–शब्द ध्यान और एकाग्रता पूर्वक चित्त को स्थिर रखना इन अर्थों में भी है। सांसारिक वृत्ति से विरक्त चित्त को स्वपरिणाम में स्थापित करने का प्रयत्न करना उसका नाम 'शुद्ध अभ्यास' है। मैत्री आदि का मूलाधान (वीजस्थापन) युक्त और गोत्रयोगी व्यतिरिक्त जो कुलयोगी आदि, उनको प्रायः शुभ अभ्यास होता है। जिसने योगियों के कुल में जन्म पाया है और उनके धर्मानुकूल चलता है, उसको कुलयोगी समझना चाहिये। सामान्यतः जो उत्तम भव्य किसी के ऊपर द्वेष नहीं रखनेवाला, दयालु, नम्र, सत्याऽसत्य की पहचान करनेवाला और जितेन्द्रिय हो उसको 'गोत्रयोगी' कहते हैं।

किन्ही आचार्यों ने तीन प्रकार का अभ्यास माना है। सतताभ्यास १, विषयाभ्यास २, और भावाभ्यास ३। माता पिता आदि का विनय आदि

करने को 'सतताभ्यास' कहते हैं। मोक्षमार्ग मे श्रेष्ठतम (नायक) श्री अरिहंत भगवान की वारंवार पूजनादि में प्रवृत्ति को 'विपयाभ्यास' कहते है। भवभ्रमण से उद्विग्न होकर सम्यग् दर्शनादि भावों का पुन. पुनः परिशीलन (विचार) करने को 'भावाभ्यास' कहते है। यहॉ निश्चयनयानुसार सतताभ्यास और विपयाभ्यास ये दो युक्त नहीं है? क्योंकि—माता पिता आदि का वैयावृत्यादि स्वरूप सतताभ्यास करेंगे तो सम्यग्दर्शनादि के आराधन का अभ्यास न होने से धर्मानुष्ठान नहीं सध सकता, और अर्हदादि का पूजन स्वरूप विपयाभ्यास करने पर भावसहित भववैराग्य नहीं होने से धर्मानुष्ठान की मर्यादा नहीं प्राप्त होती। अत एव परमार्थोपयोग रूप धर्मानुष्ठान होने से निश्चय नय के द्वारा भावाभ्यास ही आदर करने योग्य है। और व्यवहारनय से तो अपुनर्वन्धकादि में प्रथम के दोनों अभ्यास समाचरण करना आवश्यक है। क्योंकि—व्यवहारनयाभ्यास के विना निश्चयनयाभ्यास नहीं हो सकता; इस लिये सतताभ्यास और विपयाभ्यास करते करते भावाभ्यास प्राप्त होता है। तीव्रभाव से पाप को नहीं करना उसका नाम 'अ-

पुनर्वन्धक' है। अपुनर्वन्धक में आदि पद से अपुनर्वन्धक की उत्तर अवस्था विशेष को भजने वाला मार्गाभिमुख और मार्गपतित तथा अविरतसम्यग्दृष्टि आदि भी ग्रहण करना।

जैसा अभ्यास वैसा असर—

अभ्यस्त वस्तुओं का इतना दृढ़ संस्कार हो जाता है कि—वे भवान्तर में भी नहीं भूलि जा सकतीं। जो लोग हमेशां सद्गुणों का ही अनुकरण किया करते हैं उनको भवान्तर में विशेष रूप से वे गुण प्रगट होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण का अभ्यास होने से दुर्गुण सद्गुण की अपेक्षा अधिकता से पैदा हुआ करते हैं। इस जन्म में दया, दान, उदारता, विनय, आदि सद्गुणों की प्राप्ति का अभ्यास करते समय यदि उसमें कुछ स्वभाव का परिवर्त्तन हो गया, तो भवान्तर में भी सद्गुण प्राप्त होने पर भी कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुए विना नहीं रहेगा।

मनुष्यादि प्राणी बालकपन से अपने माता पिता आदि के आचरणों को देख, प्रायः उसी तरफ झुक जाया करते हैं। अर्थात् वैसा ही व्यवहार सीख लेतें हैं, और उसी के अनुसार प्रवर्त्तन करने लग जाते हैं, क्योंकि शुरू से उनको वही अभ्यास पड़

जाता है, इसीसे मनुष्यादि प्राणियों की जीवनयात्रा का मार्ग सर्वथा दूसरों के आचरणो पर ही निर्भर है।

इसके सिवाय पाश्चात्य विद्वानोंने इसका अनुभव भी किया है कि–यदि मनुष्य उत्पन्न होते ही निर्जन वन में रक्खा जावे तो वह बिलकुल मानुषी व्यवहार से विरुद्ध पशुवत् चेष्टा करनेवाला वन-जाता है। सुनते हैं कि–

किसी बालक को उसके उत्पन्न होने के कुछ समय बाद एक भेड़िया उठा ले गया और अपने निवास स्थान (भाठी-गुफा) मे जा रक्खा, किन्तु उस बालक को भेड़ियाने खाया नहीं, प्रत्युत अपने बच्चो की तरह उसको भी पालन किया। बहुत दिनो के बाद लोगों ने उसे जंगल में फिरते देखा। तब उसे बड़े यत्न से पकड कर ग्राम मे ले गये तो वह बालक मनुष्यो के समान भाषा को न बोल कर भेड़िया के सदृश घुर घुर शब्द बोलता, और मनुष्यों को देख कर भाग जाता, तथा जीभ से चप चप कर जल पीता, और उसी तरह खाया करता था। अर्थात् भेड़िया के समान ही उसके सब आचरण देख पडते थे। इससे यह सिद्ध हुआ कि–मनुष्यादि

प्राणियों का अभ्यास क्रम दूसरों के आचरणों के अधीन है, अर्थात्–"तुख्मे तासीर सोहबते असर" याने जैसा सहवास मिलता है वैसा ही अभ्यास कर लेता है और तदनुसार उसका स्वभाव भी पड़ जाता है। लिखा है कि–

अंवस्स य निंवस्स य, दुण्हं पि समागयाइँ मूलाइं।
संसग्गेण विणट्ठो, अंवो निंवत्तणं पत्तो ॥१॥

भावार्थ–आम और नीम दोनों वृक्ष की जड़ें शामिल ही उत्पन्न हुई, परन्तु नीम की जड़ के संसर्ग से आम भी अपनी मधुरता के गुण से नष्ट हो कर कड़ुआपन को धारण कर लेता है। अर्थात् उस आम का स्वभाव छूट जाता है, और कड़ुआपन के अधीन हो जाता है।

इसी तरह बालक भी संसर्गानुसार आचरणों को स्वीकार कर लेता है। इस लिये माता पिता आदि को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि–बालक दुरात्माओं के संसर्ग से असद् व्यवहार का अभ्यासी न होने पावे। क्यों कि जहाँ माता पिता मोह के वश हो बालक को उत्तम शिक्षण में नहीं स्थापित करते। वहाँ बालक जन्म से मरण

पर्यन्त दुर्गुणी वन जाते हैं और उनका वह जन्म ही नष्ट हो जाता है। इससे बालकों को सुशील और सुशिक्षित लोगो के सहवास में रखना बहुत ही आवश्यक है। वालकों का हृदय कच्चा होता है, उनके हृदय में सद्गुण वा दुर्गुण की छाया बहुत ही शीघ्र दृढ़ीभूत हो जाती है। इससे माता पिता और अध्यापको को भी सद्गुणी होने की अत्यन्त आवश्यकता है। क्यो कि—वालकों का विशेष परिचय इन्हीं लोगों के साथ रहता है। इससे वे इन की देखा देखी ही अपनी भी प्रवृत्ति कर बैठते हैं। इससे पूज्यवर्गों को उचित है कि—अपने सहवासी वालको के समक्ष अपनी कोई ऐसी चेष्टा न करें जिससे उनके हृदय दर्पण पर बुरा प्रतिभास हो, और वालकों को हमेशा सद्गुणी वनाने का प्रयत्न करते रहें, और उनको निन्दा करने की आदत से बचावें। इस प्रकार की व्यवस्था रखने से वालकों के सद्गुणी होने या उत्तम गुण संपादन करने का उत्साह नष्ट नहीं होता और वे सदा उत्तम अभ्यास में लीन रहते हैं।

पूर्वोक्त वातों के कहने का तात्पर्य यह हुआ कि—मनुष्य सत्समागम से सुधरता है और कुसंग

से विगड़ता है। जैसे—वारिश का जल मधुर या सुगन्धित वस्तुओं के संसर्ग से मधुरता या सुगन्धता को, और मलमूत्र या जहरीली वस्तुओं क संसर्ग से तदनुरूप स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार मनुष्य का जैसा अभ्यास पड़ता है वैसी ही उसको उत्तमता अथवा अधमता प्राप्त होती है। 'जैसा आहार वैसा उद्गार' इस कहावत के मुआफिक यदि मनुष्य पराये दोषों के तरफ ताक ताक कर निन्दा करता रहेगा तो वह अवश्य दुर्गुणी हुए बिना नहीं रहेगा। क्यों कि—गुण और दोष का अभ्यास संसर्गाधीन है। इसी लिये यहाँ पर अवसर प्राप्त कुछ सत्सङ्ग की महिमा दिखा दी जाती है।

सत्=गुणवानों का, सङ्ग=परिचय (सहवास) करने का नाम 'सत्सङ्ग' है। अच्छा मनुष्य उत्तम ग्रन्थ, सुन्दर भाषण, सुयोग्य मण्डली, सुशिक्षित सभासद, उत्तम पाठशाला, सद्विचार और गुणसंपन्न चरित्र, इन सब को सत् पद से लक्षित (प्रकट) किया जा सकता है। उनका सङ्ग याने सोहबत, परिचय, प्रसङ्ग, अभ्यास, मनन, अवलोकन, निवास, आदि अनेक प्रकार के संबन्ध

सत्सङ्ग कहाते है। अर्थात्–अनेक तरह से सत्सङ्ग का सेवन किया जा सकता है।

शास्त्रकारों ने जो आर्यक्षेत्र, उत्तम कुल और उत्तम जाति मे जन्म लेना अच्छा वताया है। इसका कारण यही है कि–उत्तम क्षेत्रादि में जन्म होने से आर्यजनों का समागम हमेशा मिलता रहता है, जिससे मनुष्यों का चित्त वाल्यावस्था ही से सद्गुणों के तरफ आकर्षित (खिंचा हुआ) वना रहता है, और निरन्तर सद्गुणों को प्राप्त करने का उत्साह वढ़ा करता है। इस लिये सत्संग की महिमा अवर्णनीय है। संसार में अनेक दुःखों से पीड़ित जीव मात्र के लिये सत्सङ्ग विश्राम स्थान है। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक वस्तुगत सुख और दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करा कर महोत्तम पदाधिकारी वना देने वाला है। यहाँ पर एक ब्राह्मण का दृष्टान्त अत्यन्त मनन करने लायक होने से लिखा जाता है–

सत्समागम पर दृष्टान्त—

किसी सुयोग्य ब्राह्मण की अत्युत्तम भक्ति से सन्तुष्ट हो एक महात्मा बोले कि–हे विप्र! तूं क्या चाहता है?

विप्र विद्वान् था, उसने विचारा कि–महात्मा

संपूर्ण सुखानुभव कराने में समर्थ होते हैं। इस लिये संसार में कौन सुखी है? इस बात का पहिले अनुभव करके पीछे वैसा ही सुखी होना माँगू तो ठीक होगा। ऐसा विचार कर ब्राह्मण ने कहा कि—महाराज! यदि आप प्रसन्न हुए हैं तो मुझे कुछ दिनों की अवधि दीजिये, फिर जो चाहना होगी वह माँग लूंगा।

महात्मा ने उत्तर दिया कि—यथेच्छा। ब्राह्मण सुखानुभव करने के लिये वहाँ से निकला और प्रथम राजवंशीय लोगों की सेवा में अपना समय व्यतीत करना आरम्भ किया, इससे कुछ दिन के बाद अनुभव हुआ कि—राजवंशीय लोग एक दूसरे की विभूति को छीनने के लिये प्रयत्न कर रहे हैं, एक दूसरे की ईर्षा में निमग्न हो और एक दूसरे को नष्ट करने का इरादा कर रहे हैं, निरन्तर कलह के सबब से क्षणभर भी सुख पूर्वक नहीं बैठ सकते। इस प्रकार की राजवंशियों की दशा देख कर ब्राह्मण पण्डितों की सेवा में उपस्थित हुवा, तो थोड़े दिनों में ही उसको अनुभव हुआ कि—पण्डित लोग एक दूसरे की प्रशंसा सुन सहन नहीं कर सकते, वाद विवाद में पड़ कर शास्त्रविरुद्ध भी आचरण करते देरी नहीं

करते, प्रतिवादी को किस प्रकार परास्त करना चाहिये ? इसी परामर्श (विचार) मे निमग्न वने रहते है, व्यर्थ वातो के ऊपर वाद विवाद कर वैठते है, अपना उत्कर्ष और दूसरो का अपकर्ष करने के लिये नवीन पुस्तकें वनाने में लगे रहते है, छात्रों को उपकारित्व भाव से विद्याध्ययन कराने मे आनन्दित नही रहते और द्रव्य देने वालो को ज्ञानी ध्यानी वा उत्तम वंशोत्पन्न समझ कर पढ़ाने मे दत्त चित्त रहते है। सिवाय अपने पाण्डित्य को संसार मे प्रकट करने के और कुछ भी नहीं करते। इत्यादि वातो से पण्डितो की अवस्था देख कर, ब्राह्मण व्यापारी वर्ग का सुखानुभाव करने के इरादे से वाजार मे आया और वहाँ व्यापारियो को लेन देन का झगड़ा करते और न्यायाऽन्याय का विचार न कर क्रय विक्रय के मध्य में एक दुसरे की वञ्चना करते और मिथ्या वोलने का स्वाभाविक व्यवहार करते हैं, वल्कि भोजन करने का भी जिन्हे समय नहीं मिलता। इस प्रकार लेतान में लगे देख ब्राह्मण घवराया और सोचने लगा कि—यहाँ तो हलाहल दुःख मचा हुआ है। इससे यहाँ पर सुखानुभव करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि

जहाँ केवल दुःख ही उपलब्ध है, वहाँ सुख की संभावना करना भी व्यर्थ है।

वाजार से निराश हो कर ब्राह्मण एक प्रतिष्ठित साहूकार की हवेली के समीप आया। यहाँ हवेली की तरफ दृष्टि डाली तो मालूम हुआ कि—इसमें एक श्रीमंत 'सेठ' गादी तकिया लगा कर आनन्द पूर्वक वैठा हुआ है और उसके आगे अनेक गुमास्ते काम कर रहे हैं। कई लोग सेठ की हाजरी वजा रहे हैं, अनेक पण्डित लोग स्तुति पाठ पढ़ रहे हैं. वन्दीजन नाना प्रकार का कीर्त्तन कर रहे हैं, और हाथी, घोड़ा, गाड़ी, इक्का, वग्घी और हथियारवन्ध सिपाही आदि सजकर हाजर खड़े हुए हैं। इत्यादि धामधूम से संयुत सेठ को देखकर, ब्राह्मण मन में विचार करने लगा कि—वस यह सेठ संपूर्ण सुखी दिखाई देता है। इस लिये महात्मा से इसके समान सुख माँग लूं, परन्तु साथ ही भाग्यवश यह विचार उठा कि—एक वखत सेठ से मिल कर इसके सुख का निर्णय तो अवश्य कर लेना चाहिये। क्योंकि—अनिर्णीत विषय की याचना, पीछे से अहितकर होती है।

ऐसा हार्दिक विचार कर ब्राह्मण उस हवेली

के भीतर जाने लगा कि चौकीदार ने उसे रोका, और कहा कि–'अरे! कहाँ जाता है ?,' ब्राह्मण ने जवाब दिया कि 'मैं सेठजी से कुछ पूछने के लिये जाता हूँ' चौकीदार ने कहा 'यहाँ ठहर, मै सेठ साहब को इत्तला (सूचना) देता हूँ' ब्राह्मण दरवाजे पर खडा रहा, और चौकीदार ने भीतर जाकर सेठजी से कहा कि–" हजूर ! एक ब्राह्मण आपसे मिलने को आया है, यदि आज्ञा हो तो उसको आने दूँ" सेठ ने जवाब दिया 'अभी अवकाश नहीं है।' चौकीदार ने वापिस जाकर ब्राह्मण से वैसा ही कहा, तब वह बाहर ही एक चबूतरे पर बैठ गया।

इधर सेठ किसी कार्य के निमित्त गाडी में बैठ कर बाहर निकला, इस समय ब्राह्मण आशीर्वाद देकर कुछ पूछने का इरादा करता है, इतने में तो सिपाही लोगो ने उसे बन्द कर दिया, सेठ की गाडी रवाना हो गई। कार्य होने के बाद सेठ पीछा लौट कर आया कि–फिर वह ब्राह्मण खडा हो कर कुछ पूछने लगा कि सेठ ने उसकी बात को न सुन कर, मुनीम से कहा 'इसको सीधा

पेटिया दिलवा दो।' हुक्म पाते ही मुनीम न ब्राह्मण से पूछा कि तेरे को क्या चाहिये? ब्राह्मण ने जवाव दिया कि–मैं तो सेठजी से केवल मिलना ही चाहता हूँ और कुछ नहीं। मुनीम ने सेठ के पास जा कर उसी प्रकार कहा, सेठ ने शोचा कि वह मेरे पास आने पर कुछ अधिक माँगेगा, और मुझे मिलने का अवकाश भी नहीं है। मुनीम को हुक्म दिया कि 'उसको दो चार रुपया देकर रवाना कर दो।' सेठ की आज्ञा पाकर मुनीम ने ब्राह्मण से वैसा ही कहा, किन्तु उसने तो वही पूर्वोक्त वचन कहा। तव मुनीम वोला कि–ब्राह्मण! तुम भूखे मर जाओगे तौभी सेठ तो आपसे मिलनेवाला नहीं है।

ब्राह्मण सेठजी से मिलने के लिये दो तीन दिन तक भूखा वैठा रहा, सेठजी को खवर हुई कि ब्राह्मण केवल मुझ से मिलने के निमित्त ही भूखा मर रहा है। अन्त में सेठ ने वाहर आकर कहा कि–हे ब्राह्मण! वोलो क्या काम है? मुझे तो भोजन करने का भी अवकाश नहीं है, तथापि तुम्हारे आग्रह से आना पड़ा है। सेठ के वचनों को सुन कर ब्राह्मण समझ तो गया, परन्तु विशेष स्पष्ट करने के लिये कहा कि—

मेरे उपर एक महात्मा प्रसन्न हुए हैं और वे मेरी इच्छा के अनुकूल सुख देने को तैयार हैं किन्तु प्रथम सुखानुभव कर सुख माँगने का मैंने इरादा किया है। इस लिये बतलाइये कि–"आप सुखी हैं या दुःखी ?। अगर आप सुखी हों तो मैं महात्मा से आप के समान सुख माँगलूं।" सेठ ने कहा कि–अरे महाराज! मैं महा दुःखी हूँ, मुझे खाने पीने या सुखपूर्वक क्षणभर बैठने तक का समय नहीं है, यदि मेरे समान सुख माँगोगे तो आप महा दुःखी हो जाओगे, अत एव भूल कर के भी मेरे समान सुखी होने की याचना मत करना। बस, इस प्रकार सुनते ही तो ब्राह्मण अन्यत्र सुखानुभव करने की आशा से निराश हो विचारने लगा कि—

वस्तुगत्या संसार में महात्माओं के सिवाय दूसरा कोई मनुष्य सुखी नहीं दीख पड़ता। क्योंकि–संसार जाल महाभयङ्कर है, इसमें मग्न हो कर, सुखी होने की अभिलाषा रखना सर्वथा भूल है। मनुष्य जब तक धन, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, आदि की चिन्ता में निमग्न हो इधर उधर भटकता रहता है, तब तक अनुपम आनन्द दायक और सब दोषों से

रहित मोक्षस्थान का अधिकारी ही नहीं बन सकता। क्यों कि भोग में रोग का, धन में राज्य का, मौन में दीनता का, बल में शत्रु का, रूप में जरा (वृद्धता) का, शास्त्र में वाद का, गुण में दुर्जन का और काया में काल का भय लगा हुआ है। अर्थात् मनुष्यों को संसार में सर्वत्र भय ही भय है, परन्तु निर्भय तो एक महात्मा का समागम ही है। जो कि सुख और दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव कराने वाला है। इसी लिये संसार में सब संयोग प्राप्त हो जाते हैं, लेकिन सत्पुरुषों का समागम मिलना बहुत कठिन है। लिखा भी है कि—

मात मिले सुत भ्रात मिले।
पुनि तात मिले मनवंछित पाई॥
राज मिले गज वाजि मिले।
सब साज मिले युवती सुखदाई॥
लोक मिले परलोक मिले।
सब थोक मिले वैकुंठ सिधाई॥
'सुन्दर' सब सुख आन मिले।
पण 'सन्तसमागम' दुर्लभ भाई॥ १॥

अर्थात्–इस संसार में माता, पिता, पुत्र, भाई, स्त्री आदि अपनी मनसा के अनुकूल मिल

सकते है, दिव्य राज, हाथी, घोडा, पायदल, आदि सब साज मिल सकते है, लोक और परलोक सुधरने संबंधी सब सामग्रियाँ मिल सकती है, बहुत क्या कहें सब सुख सहज में प्राप्त हो जाते है, परन्तु मोक्षधाम मे पहुँचाने वाला और समग्र उपाधियो का मिटाने वाला एक ' सत्समागम ' का ही मिलना दुर्लभ है ।

शास्त्रोक्तगुणसंपन्न महात्मा इस संसार मे विरले हैं, उनका समागम होना सहज नहीं है, जिन लोगों ने अखंडित दान, दया, संजम आदि सत्यव्रत पालन किये हैं और परापवाद से अपने आत्मा को बचाकर सहनशीलता आदि सद्गुणों का अभ्यास किया है, या करने का उत्साह जिनके हृदय में रहता है उन्हीं को सन्त समागम मिलता है ।

अशुभ व्यापारों से रहित मन, वचन और काया इन त्रिकरण योग को जिसने स्थिर कर लिया है। ऐसे योगीश्वर गाँव, नगर, अरण्य, दिवस, रात्रि, सोते या जागते सर्वत्र समभाव में रमण करते रहते हैं । कहा भी है कि–' आत्मदर्शी कुं वसति, केवल आत्मशुद्धि ' जो केवल आत्मनिष्ठ हुए है जो निज स्वरूप में ही रमण करते है, ऐसे महा-

त्माओं का निवास शुद्ध आत्मप्रदेश ही है। अर्थात् उन्हें आत्मरमणता सिवाय निन्दा, ईर्षा, कषाय आदि अशुभ स्थानों में निवास करने की आवश्यकता नहीं है। शास्त्रकारोंने महात्माओं के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं कि—

सत्पुरुषों के लक्षण—

उदारस्तत्त्ववित्सत्त्व–संपन्नः सुकृताऽऽशयः।
सर्वसत्त्वहितः सत्य–शाली विशदसद्गुणः ॥ १ ॥
विश्वोपकारी संपूर्ण–चन्द्रनिस्तन्द्रवृत्तभूः।
विनीतात्मा विवेकी यः, स 'महापुरुषः' स्मृतः ॥२॥

भावार्थ–उदारजिनके हृदय में नीच लोगों की तरह 'यह मेरा यह तेरा' इत्यादि तुच्छ बुद्धि उत्पन्न नहीं हो और सारी दुनिया जिनके कुटुम्ब रूप हो १, तत्त्ववित्स्वबुद्धि बल से साराऽसार, सत्याऽसत्य, हिताऽहित, कृत्याऽकृत्य, यावद् गुण और दोष की परीक्षा पूर्वक सत्यमार्ग का आचरण करते हों २, सत्त्वसंपन्नस्वपुरुषार्थ का सदुपयोग करते हों, प्रारंभ किये हुए कार्य को पार करें और आचरित प्रतिज्ञा को अन्तः पर्यन्त निर्वाह करने वाले हों ३; सुकृताऽऽशयजिनका आशय निरन्तर निर्मल रहता हो, किसी समय दुर्ध्यान के

वशीभूत न हो ४; सर्वसत्त्वाहितप्राणीमात्र का हित करने मे दत्तचित्त रहते हो, और मन, वचन, काया से नित्य सव का भला ही करना चाहते हों ५ सत्य-शालीजो अत्यन्त मधुर हितकारी वचन वोलते हो, प्राणसन्देह होने पर भी सत्य सीमा का उल्लंघन नहीं करते हों और राज्यादि--सांसारिक पदार्थ प्राप्ति के लिये भी असत्य वचन नही वोलते हों ६; विशदसद्गुणीउत्तम क्षमा, नम्रता, सरलता, सन्तोष, तप, संयम, सत्य, प्रामाणिकता, निस्पृहता, और ब्रह्मचर्य आदि सद्गुण धारण करनेवाले हो ७, विश्वोपकारीअनेक उपायो से प्राणियों का उपकार करने मे प्रयत्न करते रहते हों, और सव के पूज्य होने पर भी निरहंकार रहते हो किन्तु किसी का उपकार कर प्रत्युपकार (वदला) की इच्छा (दरकार) नहीं रखते हों, ८, संपूर्ण चन्द्र मण्डल की तरह शुद्ध निरतिचार चारित्र धारक हों, समभाव (शान्तरस) में लीन रहते हों और सव किसी को वैरविरोध कम करने का उपदेश देते हों ९, विनीतआचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, कुल, गण, शास्त्र, और चैत्य (जिनप्रतिमा) आदि का यथार्थ विनय साॅचवते हों १०, विवेकी

राजहंस की तरह दोषों को तजकर गुणों का ही ग्रहण करते हों, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार आप्तप्रणीत निर्दोष मार्ग ही आचरण करते हों ११; एतद् गुण विशिष्ट पुरुष ही 'महापुरुष' कहे जाते हैं।

न ब्रूते परदूषणं परगुणं वक्त्यल्पमप्यन्वहं,
सन्तोषं वहते परर्धिषु पराबाधासु धत्ते शुचम्।
स्वश्लाघां न करोति नोज्झति नयं नौचित्यमुल्लङ्घय-
त्युक्तोऽप्यप्रियमक्षमां न रचयत्येतच्चरित्रं सताम्।१।

भावार्थ-किसी मनुष्य के दोष न देखते हों १, दूसरों के अल्प गुणों की भी नित्य प्रशंसा करते हों २, दूसरों की वृद्धि या समृद्धि देख कर सन्तोष रखते हों ३, दुःखियों को देख कर करुणा (शोक) करते हों ४, आत्मप्रशंसा न करते हों ५, दुःखित होने पर भी नीतिमार्ग को न छोड़ते हों ६, सभ्यता रखते हों ७, और अपनी निंदा सुन कर भी क्रुद्ध न होते हों ८, ये सब महात्माओं के चरित्र हैं। अर्थात्-जिन पुरुषों का आचरण दोष रहित हो, जो सच्चरित्रवान् तथा विद्या बुद्धि से संपन्न हो, जिनका अन्तःकरण निर्मल, तथा वाणी मधुर मनोहर प्रियंवदा हो, और जो जितेन्द्रिय सन्तोषी हो जिनका जीवन उच्च आदर्शमय हो, वेही सज्जन पुरुष हैं।

और यही सज्जन का लक्षण भी है। अतः सत्संगति संसार में मनुष्य के लिये स्वजीवन का उन्नत बनाने का, दिग्दिगन्तव्यापी यशोपार्जन करने का मार्ग, और सन्तति को आनन्द प्राप्त कराने का पथ है।

सत्समागम से अनुभव मार्ग मे प्रवेश हो कर अप्रतिम सुख प्राप्त होता है और पर वस्तुओं पर उदासीनता होती है। बाह्यदृष्टि का अभाव, वैराग्यदृष्टि का पोषण और निर्दोष सत्यमार्गाभिमुख गमन होता है। मिथ्यामति का विनाश, शुभमति का प्रकाश, और उत्तरोत्तर गुणश्रेणी में प्रवेश होता है।

इस प्रकार वह ब्राह्मण शास्त्रोक्त युक्तियों के द्वारा विचार करता हुआ और सांसारिक क्षणिक सुखों का अनुभव कर जगज्जाल माया में मोहित न होकर, छ महिना तक पर्यटन करने की प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाने से उन्हीं महोत्तम सर्वत्र स्वतंत्र परमोपकारी महात्मा के समीप आया और हाथ जोड़ कर विनयावनत भाव से कहने लगा कि—

"अब हम सन्तसमागम पाया, निज पद में जब आया ॥ टेर ॥ एक भूल के कारण मैंने, कितनी

भूल बढ़ाया। अन्तर नयन खोल के देखा, तब निज-रूप लखाया ॥ अ० ॥ १ ॥ इतने दिन हम बाहर खोजा, पास हि सन्त बताया। तिन कारन गुरु सन्त हमारे, छूवत नाहिं धन माया ॥ अ० ॥ २ ॥ सहस जन्म जो नजर न आवे, छिन में सन्त बताया। संतगुरू हैं जग उपकारी, पल में प्रभु दरसाया ॥ अ० ॥ ३ ॥ तीन लोक की संपत सब ही, हिरदय में प्रकटाया। शिवानन्द प्रभु सब जग दीसत, आनन्द रूप बनाया ॥ अ० ॥ ४ ॥"

हे महात्मन्! आप की अनुपम कृपा से मैंने छ महीने पर्यन्त भ्रमण कर अनेक स्थानों में सांसारिक विनाशी सुखों का अनुभव कर लिया, परन्तु किसी जगह सुख का अंश भी नहीं दीख पड़ा।

संसार में जिधर दृष्टि डाली जाय, उधर प्रायः दुःख ही दुःख है, किन्तु सुख नहीं है। मनुष्यादि प्राणी दुःखमय माया जाल में फस कर अपने कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार के शरीर धारण कर जन्म मरण सबन्धि असह्य क्लेशों को सहन करते फिरते हैं। संसार असार है और अज्ञान दशा से लोगों ने उसको सुखरूप मान रक्खा है, जैसे जल के अन्दर ऊँची ऊँची लहरें उठती और तत्काल ही उसीमें

विलीन हो जातीं हैं। इसी प्रकार भोग विलास भी चंचल और अत्यन्त दुःख दायक है। यह युवावस्था भी स्वल्पकालगामी ही है, स्वजनादिक मे प्रीति भी चिरस्थायी नहीं है, इन्द्रियों की शक्ति भी प्रवल नहीं रहती, और इच्छाओं की पूर्त्ति भी परिपूर्ण नहीं हो सकती। क्योकि जो मनुष्य अपनी इच्छाओं को वढ़ाता रहता है उसको शान्ति कभी नही हो सकती ?, जैसे अग्नि पर जितना घी डालोगे उतनी ही वह अग्नि वढ़ती जायगी। इसी तरह इच्छाओ को वढ़ाने मे जो सदा लगा रहता है, उसका चित्त प्रतिसमय उद्विग्न और इच्छाओं की पूर्त्ति न होने से महा दुःखी वना रहता है। इसी भावार्थ का यह श्लोक भी है—

'न जातु काम· कामाना–मुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्द्धते' ॥ १ ॥

इससे यह संसार अध्यात्मदृष्टि से केवल दुःखात्मक और नीचगति दायक ही दीख पड़ता है, परन्तु जिनमहानुभावो के ऊपर सन्त महात्माओं की दया हो गई है, वे महानुभाव संसार में स्थित रहने पर भी महात्माओ के समान स्वजीवन को व्यतीत करते है और सदा निर्भय रहते हैं। क्योंकि

उन्हें सांसारिक विपयों से उदासीनता वनी रहती है, इससे वे संसार में लिप्त नहीं होते। अत एव हे कृपानिधान ! हे जगदुद्धारक ! हे मुनिशक्रचक्र-चूडामणे! अव मुझे आप अपने अनुसार शुद्धमार्ग अर्पण कर, अनुपम आनन्दाधिकारी वनाइये। क्योंकि—अव मुझे कोई भी आपके सिवाय दूसरा सुखी या सुखदायक नहीं देख पड़ता और न कोई आपके सिवाय स्वजन वन्धु वर्ग ही है। अतः परं—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव,
त्वमेव वन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव,
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ! ॥ १ ॥

भावार्थ—हे देवदेव! महात्मन्! मेरे आप ही माता सदृश और आप ही पिता सदृश हैं, आप ही वन्धु और आप ही (उत्तम) मित्र सदृश हैं, आप ही विद्या और आप ही वल व धन सदृश हैं, आप ही सर्व—कुटुम्व के समान हैं।

क्योंकि—सांसारिक कुटुम्व तो विनाशवान् है, किन्तु एक आपका ही समागम अविनाशी है।

अर्थात् आपकी सेवा से ही अविनाशी अविच्छिन्न (शाश्वत) संपत्तियाँ प्राप्त हो सकतीं है। इस लिये आपकी सेवा मे ही रह कर मैं अपना जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ; क्योंकि संसार रूपी दावानल में सन्तप्त जीवो के लिये आपका ही समागम विश्रामस्थान होने से आनन्द कारक है।

इस प्रकार उस ब्राह्मण का चित्त संसार से उद्विग्न और वैराग्यवान देख कर विधिपूर्वक उन महात्मा ने उसको पारमेश्वरी दीक्षा दे दी। फिर वह ब्राह्मण सन्त सेवा में रह कर आत्मीय ज्ञान का संपादन करने लगा। एवं निरतिचार (निर्दोष) धर्मानुष्ठान को परिपालन करता हुआ शाश्वत सुख को प्राप्त हुआ।

सत्सग की महिमा—

"सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ?"

संसरणशील संसार में सज्जनों का संग क्या नहीं कराने योग्य है, अर्थात् इहलोक में सानन्द आयु को बिताकर अन्त में कैवल्य प्राप्ती कराने का यह एक ही उपाय है। नीतिकारों ने भी इस महिमा का वर्णन किया है कि—

" चन्दनं शीतलं लोके, चन्दनादपि चन्द्रमाः ।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये, शीतला साधुसङ्गतिः ॥ १ ॥
साधुसङ्गतयो लोके, सन्मार्गस्य प्रदीपकाः ।
हार्दान्धकारहारिण्यो, भासो ज्ञानविवस्वतः " ॥२॥

भावार्थ—संसार में चन्दन शीतल कहा जाता है, और चन्दन से भी विशेष चन्द्रमा शीतल माना गया है, परन्तु चन्दन और चन्द्रमा से भी उत्तम सत्संग ही वतलाया है । इस लोक में साधु समागम ही सन्मार्ग का दीपक और चित्ताऽऽकाश में परिपूर्ण अज्ञानान्धकार घटा को दूर कर ज्ञानरूपी सूर्य का प्रकाश है ।

वाचकवर्ग ! यह सत्संग की ही महिमा है कि नाना वृक्षलताओं से सुशोभित, विविध फल पुष्पों से प्रफुल्लित, रमणीय अरण्य में चन्दनवृक्ष के समीपवर्ती अन्य पादप भी चन्दन वृक्ष की अपूर्व सुगंध से चन्दनवृक्षवत् हो जाते हैं । सत्संगति की ही महिमा है कि—जो मणि सर्प के मस्तक पर रह कर नाना चोटों को खाया करती है, पुनः वही राजा के मुकुट में वास कर सुशोभित हो सत्कार का भाजन बनती है । सत्संगति की ही महिमा का प्रताप है कि जो पुष्प अधम माली के हाथ से

लालित पालित हुआ भी भगवान के शरण में जाकर सब का आदरणीय होता है। जो लोहा अधम पुरुषों के हाथ मे रह कर कभी अग्नि में जलाया जाता है, कभी मुद्गरो से पीटा जाता है और रात्रि दिवस असख्य जीवों की हिंसा करने में लगा रहता है परन्तु उसको कहीं पारस पत्थर के साथ समागम हो जाय तब वह सुवर्णमय हो कर नृपतिवरो के करकमलो मे प्रतिदिन कङ्कण कुडलादि पदवी पाकर विलास किया करता है। इसी से कहा है कि—

" पारस और सत्सग में, बडो अन्तरो जान।
वह लोहा कञ्चन करे, वह करे सन्त समान ॥ "

सत्सग के विषय मे एक कवि ने भी वर्णन किया है कि—

यदि सत्सङ्गनिरतो, भविष्यसि भविष्यसि।
यदि दुःसङ्गविषये, पतिष्यसि पतिष्यसि ॥ १ ॥
काच. काञ्चनसंसर्गाद्, धत्ते मुक्ताफलद्युतिम्।
तथा सत्सन्निधानेन, मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥२॥

भावार्थ—यदि सन्त समागम में निरत होगे तो इस लोक में सुख प्राप्त कर अन्त में परमपद

के अधिकारी बनोगे, यदि दुर्जन के सहचारी बनोगे तो नीचेही गिर जाओगे। जिस प्रकार काच काञ्चन के संसर्ग से मुक्ताफल की छवि को धारण करता है, उसी प्रकार सत्संग से मूर्ख भी प्रवीण (बुद्धिमान्) हो जाता है।

सत्संगति ही वाणी में सत्यता का प्रादुर्भाव करती है, और यही विद्वज्जनों में मानप्रदायिनी तथा पापप्रणाशिनी, शोकादि को दूर कर चित्त प्रसन्न करने वाली और निखिल दिशाओं में यशःकीर्त्ति फैलानेवाली है। जिस देश में सत्संगति का प्रचार है उस देश में सदैव सुख शान्ति तथा एकता की धारा मन्दाकिनी (स्वर्गगंगा) की धारा के समान आनन्द की लहरें लेती हुई बहा करती है, और उस देश के वासी स्वप्न में भी दुःख के भागी नहीं होते, और उस देश की उन्नति को देख देव, गंधर्व, किन्नर आदि आकाश में विराजमान हो कीर्त्ति का गान किया करते हैं। जिस देश के पुरुष सज्जन पुरुषों के अनुकूल नहीं चलते या जिस देश में सज्जन पुरुषों का आदर नहीं है, अथवा जिस देश में सज्जन पुरुषों का वास नहीं है, उस देश को जड़ता, द्वेष, कलह, अशान्ति आदि दोष शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं।

परस्पर क्रोध वढ़ जाने से भ्राता भ्राता में, पुत्र पिता में, माता पुत्र में, भगिनी भ्राता मे पति पत्नी मे लड़ाई उत्पन्न होकर उस देश, उस कुल और उस जाति का वहुत शीघ्र ही नाश हो जाता है।

इस लिये महानुभावो! यदि अपना, अपने धर्म, देश, और जाति का अभ्युदय करना चाहते हो तो असत्संग से दूर होने का उपाय तथा सज्जन पुरुषों की आज्ञा पालन और उनका आदर करना सीखो। जव तक सत्संग नहीं किया जायगा, तव तक अभ्युदय की अभिलाषा करना मृगतृष्णा के समान है। कहा भी है कि—

" सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य , स चेद् हातुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्तव्य , सङ्गःसङ्गाहिभेषजम् ॥१॥ "

भावार्थ—हर तरह से ' सङ्ग ' त्याग करना चाहिये, किन्तु यह वहुत कठिन है, इस लिये वह सङ्ग सज्जनों का ही करना चाहिये। क्योंकि सङ्ग-रूपी सर्प का भेषज (औषधि) सत्सङ्ग ही है।

पाठकगण! इन सव वातों का परिणाम भी यही है कि-मनुष्यों को संसार का प्रत्यक्ष अनुभव करने के लिये सत्संगम करने का अभ्यास करने

रहना चाहिये। जो निरन्तर सत्समागम करने में उद्यत रहते हैं, वे उक्त ब्राह्मण की तरह अवश्य अपनी उन्नति कर सकते हैं। क्योंकि—अभ्यास से ही सव गुण साध्य हैं। कहा भी है कि—

अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः,
अभ्यासात्सकलाः कलाः।
अभ्यासाद्ध्यानमौनाऽऽदि,
किमभ्यासस्य दुष्करम्? ॥ १ ॥

भावार्थ—अभ्यास से सव क्रियाएँ, अभ्यास से सव कलाएँ, और अभ्यास से ही ध्यान, मौन आदि होते हैं। संसार में ऐसी क्या वात है, जो अभ्यास से साध्य न हो? अर्थात्—अभ्यास से सभी वात सिद्ध हो सकती है।

अतएव अपनी उन्नति होने के लिये प्रत्येक मनुष्यों को सद्गुणों का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिये, जिससे भवान्तर में भी सद्गुण की प्राप्ति हो।

परदोष ग्रहण करने से निरर्थक पाप
का वन्ध होता है—

जो परदोसे गिण्हइ, संताऽसंते वि दुट्ठभावेणं।
सो अप्पाणं वंधइ, पावेण निरत्थएणा वि ॥ १० ॥

यः परदोषान् गृह्णाति, सतोऽसतोऽपि दुष्टभावेन ।
स आत्मानं बध्नाति, पापेन निरर्थकेनापि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ--(जो) जो मनुष्य (संताऽसते वि) विद्यमान और अविद्यमान भी (परदोसे) दूसरों के दोषों को (दुट्ठभावेणं) राग द्वेष आदि कलुषित परिणाम से (गिण्हइ) ग्रहण करता है (सो) वह (निरत्थएणा वि) निरर्थक ही (पावेणं) निन्दारूप पाप से (अप्पाणं) आत्मा को (बंधइ) बाँधता है।

भावार्थ--जो लोग दुष्टस्वभाव से दूसरे मनुष्यों के सत्य वा असत्य दोषो का ग्रहण करते हैं वे अपनी आत्मा को बिना प्रयोजन व्यर्थ ही संसार भ्रमणरूप महायन्त्र में डालते है, अर्थात् दुर्गति का भाजन बनाते है।

विवेचन--निन्दा करना निरर्थक पाप है, अर्थात्-निन्दा करने से आत्मा में अनेक दुर्गुण पैदा होते है, जिससे आत्मा दुर्गति का भाजन बनकर दुःखी होता है। जो लोग अपनी जिह्वा को वश में न रखकर दूसरो की निन्दा किया करते है वे संसार मे अत्यन्त दुःखी होते है। लोभ, हास्य, भय और क्रोध आदि अनेक प्रकार से निरर्थक

ही पाप लगता है। निन्दा करने में प्रायः असत्यता अधिक हुआ करती है जिससे भवान्तर में निकाचित कर्म का बन्ध होता है, जिसका फलोदय रोते हुए भी नहीं छूट सकता। परापवाद से जिह्वा, मन और धर्म अपवित्र होता है इसीसे उसका फल कटु और निन्द्य मिलता है। निन्दा करने से यत्किञ्चित् भी शुभ फल नहीं मिल सकता, प्रत्युत सद्गुण और निर्मल यश का सत्यानाश होता है। क्योंकि निन्दा करना अविश्वास का स्थान, अनेक अनर्थों का कारण, और सदाचार का घातक है।

इसीसे शास्त्रकारों ने जातिचंडाल, कर्मचंडाल, और क्रोधचंडाल के उपरान्त निन्दक को भी चौथा चंडाल कहा है। क्योंकि निन्दा करने वाला पृष्ठ मांसखादक है, वह निरन्तर दूसरों के निन्दारूप मैल (विष्ठा) को साफ किया करता है। निन्दा करने वालों को परापवाद बोलने में बहुत आनन्द होता है, परन्तु वह आनन्द उनका भवान्तर में अत्यन्त दुःखदायक होता है। संसार में और पापों की अपेक्षा निन्दा करना महापाप है, इसी विषय की पुष्टि के लिये 'श्रीसमयसुन्दरसूरिजी' लिखते हैं कि—

निन्दा म करजो कोइनी पारकी रे,
निन्दाना बोल्यां महापाप रे ।
वैर विरोध बांधे घणो रे,
निन्दा करतो न गणे माय बाप रे ॥
॥ निन्दा० ॥ १ ॥

दूर बलन्ती कां देखो तुम्हे रे ?,
पगमां बलती देखो सहु कोय रे ।
परना मेलमां धोया लूगड़ा रे,
कहो केम ऊजला होय रे ? ॥
॥ निन्दा० ॥ २ ॥

आप संभालो सहु को आपणी रे,
निन्दानी मूको पडी टेव रे ।
थोडे घणे अवगुणे सहु भरया रे,
केहना नलिया चूवे केहना नेव रे ॥
॥ निन्दा० ॥ ३ ॥

निन्दा करे ते थाये नारकी रे,
तप जप कीधुं सहु जाय रे ।
निन्दा करो तो करजो आपणी रे,
जेम छूटकबारो थाय रे ॥
॥ निन्दा० ॥ ४ ॥

गुण ग्रहजो सहु को तणा रे,
जेहमां देखो एक विचार रे।
'कृष्ण' परे सुख पामशो रे,
'समयसुन्दर' सुखकार रे॥
॥ निन्दा० ॥ ५ ॥

इस पद्य का तात्पर्य यही है कि—दूसरों के दोष देखने की आदत छोड़ ही देना चाहिये, क्योंकि परदोष ग्रहण करने से केवल क्लेशों की वृद्धि ही होती है और तप जप आदि का फल नष्ट होता है। 'थोड़े घणे अवगुणें सहु भरचा, इस लोकोक्ति के अनुसार किसी में एक, तो किसी में अनेक दोष होते ही हैं, अतएव दूसरों के दोष न देखकर अपने ही दोषों का अन्वेषण करना चाहिये, जिससे कि सद्गुणों की प्राप्ति हो। जो पुरुष परापवाद आदि दोषों को छोड़कर, सभी के गुणों को ग्रहण करता है संसार में वही सुखी होता है। कहा भी है कि—

यदीच्छसि वशीकर्त्तुं, जगदेकेन कर्मणा।
परापवादसस्येभ्य—श्चरन्तीं गां निवारय॥ १॥

भावार्थ—जो एक ही कर्म (उपाय) से जगत मात्र को अपने वश में करना चाहते हो, तो परा-

पवाद् (परनिन्दा) रूप घास को चरती हुई वाणीरूप गौ को निवारण करो, अर्थात् स्ववश मे रक्खो ।

वास्तव मे जो मनुष्य प्रियवचनो से सव के साथ वात करता है, और स्वप्न में भी किसीकी निन्दा नहीं करता. उसके वश में सव कोई रहता है और जो दूसरों के अवगुणो को ही देखा करता है, उससे सारा संसार पराङ्मुख रहता है। अतएव जिस वात के कहने से दूसरों को अप्रीति होती हो यदि वह सत्य भी हो तो उसे न वोलो, क्यों कि वैसा वचन अनेक विपत्तियो का पैदा करनेवाला है, इससे दूसरों के विद्यमान व अविद्यमान दोषो को छोडकर नीचे लिखे सुशिक्षावचनो को धारण करना चाहिये ।

१ " सच्चरित्र वनो, धार्मिक वनो, शिष्ट वनो, क्योंकि जव तुम मृत्युशय्यापर होगे तो शुभकार्यों के सिवाय और कोई शान्ति न दे सकेगा । "

२ " जो वस्तु उत्तम होती है, उसका शीघ्र मिलना भी कठिन होता है। इसलिये उत्तमता की खोज में यदि कठिनता पड़े तो घवराना नहीं चाहिये । "

३ " मनुष्यों के साथ व्यवहार करने में सदा न्याय और निष्पक्षता का विचार रक्खो, और उनके साथ वैसा ही वर्ताव करो जैसा कि तुम अपने लिये उनसे चाहते हो। "

४ " जो काम तुमको सोंपा गया है, उस को धर्म और सच्चाई से करो। उस मनुष्य के साथ कभी विश्वासघात न करो, जो तुम्हारे ऊपर भरोसा रखता है। चोरी करने की अपेक्षा विश्वासघात करना महापाप है। "

५ " अपनी बड़ाई अपने मुह मत करो, नहीं तो लोग तुमसे घृणा करने लग जाँयगे। और न दूसरों को तुच्छ समझो, क्योंकि इसमें बड़ा भय है। "

६ " कठिन उपहास मित्रता के लिये विष है; क्योंकि जो अपनी जिह्वा को नहीं रोक शकता, अन्त में वह दुःख पाता है। "

७ " किसी की विना परीक्षा किये उस पर विश्वास मत करो। परन्तु विना कारण किसी को अविश्वासी भी न समझो। "

८ " धार्मिक सत्पुरुषों को अमूल्यरत्न के स-

मात्र सदा अपने पास रक्खो, या उनके पास रहो। सत्संग करना स्वजीवन को उच्चतम वनाना है।"

९ "जो समय बीत गया वह फिर कभी न आवेगा; और जो दिन आने को है कौन जाने तुम उसे देख सकोगे या नहीं, इसलिये जो कुछ करना है उसे वर्त्तमान काल में करलो, जो बीत गया उस पर सोच मत करो, और जो आनेवाला काल है उस-पर भरोसा भी मत रक्खो।"

१० "कोई काम कल पर न उठा रक्खो, क्योंकि ऐसा करने वालों को कल (स्वास्थ्य) कभी नहीं मिलता।"

११ "आलस्य से दरिद्रता और दुःख उत्पन्न होता है। परन्तु परिश्रमी पुरुष दरिद्रता और दुःख को धक्का मार कर निकाल देता है।"

प्रिय पाठक! उक्त सुशिक्षावचनों से आत्मोन्नति वहुत शीघ्र हो सकती है, इससे इन्होंको तुम अपनी आत्मा में धारण करो और सज्जनता से व्यवहार करो, जिस से तुम्हारी आत्मा निरर्थक पापकर्म से वचकर सुखी वने, यदि तुम परापवाद्-प्रिय वनोगे तो आत्मोद्धार कभी नहीं हो सकेगा।

वे स्त्री, पुरुष; जो गुणी और चतुर हैं, संसार में अपनी समुन्नति बहुत जल्दी कर पाते हैं और अपनी सोबत में रहनेवाले गुणहीन स्त्री, पुरुषों को गुणी बना कर समुन्नत दशा पर पहुंचा देते हैं। पुरुषों के वजाय स्त्रियों को सद्गुणी बनना अत्यावश्यकीय है; क्यों कि, पुरुषों के सारे जीवन का सुधार-भार स्त्रियों पर ही निर्भर है। और प्रायः पुरुषों को बालक अवस्था से ही स्त्रीयों के संसर्ग में उछरना (बड़ा होना) पड़ता है। अतएव पुरुषों के हृदय पट पर जितना प्रभाव स्त्रियों का पड़ता है उतना दूसरे किसी का नहीं पड़ सकता।

एक सद्गुणी स्त्री अनेक दुर्गुणी स्त्री पुरुषों का सुधार बडी आसानी से कर सकती है। इस बात को अच्छी तरह समझने के लिये नीचे का दृष्टान्त जरा ध्यान पूर्वक पढ़िये—

गृहदक्षा-रानी का दृष्टान्त—

किसी नगर में अरिमर्दन नामक राजा था. उसकी रानी का नाम सुविद्या था। वह बडी चतुर, पण्डिता, गृहकार्य, प्रबन्ध और व्यय उठाने में महादक्षा थी। जब उसके पुत्र का जन्म हुआ, तब राजाने ज्योतिषियों को बुला कर ग्रह आदि का विचार कराया। उन्होंने पुत्र को बडा तेजस्वी,

प्रतापी, ऐश्वर्यवान्; आदि गुणवाला बताया। राजा को यह सुन कर विस्मय (आश्चर्य) हुआ, और वह मन ही मन विचारने लगा कि, क्या इस समय संसार में दूसरे किसी का जन्म न हुआ होगा ?, बस, इस मानसिक विचार को गुप्त रख कर राजाने अपने दूतों को आज्ञा दी कि—जो मनुष्य इसी लग्न और मुहूर्त्त में उत्पन्न हुआ हो, उसको खोज करके ले आवो। वे दूर ढूंढते ढूंढते किसी एक महादरिद्री कठियारे (लकडहारे) को पकड लाये। राजाने ज्योतिषियों की सभा करके पूछा कि इस मनुष्य का भी जन्म उसी लग्न में हुआ है, जिसमें कि राजकुमार का। फिर यह ऐसा दरिद्री क्यों है ?, उन्होंने भाँति भाँति के उत्तर दिये, परन्तु राजा को सन्तोष नहीं हुआ। इसी सोच विचार में वह रानी सुविद्या के राजभवन में चला गया। रानीने यथोचित आदर—सत्कार करके हाव—भाव कटाक्ष से सदैव की भाँति राजा के मन को प्रसन्न करना चाहा। पर राजा को उदासीन और किसी विचार में निमग्न जान, वह कारण पूछने लगी। राजाने टालाटूल की, पर रानीने हट करके पूछ ही लिया और राजाने सब वृत्तान्त कह सुनाया। रानीने उत्तर दिया कि, यह

तो अति सहल बात है । उसके घर में उसकी स्त्री मूर्ख और फूहर होगी, जिस कारण वह निर्धन रहता है । ऐसा उत्तर रानी के मुखसे सुन कर राजा को क्रोध आ गया कि इस रानी को अपनी गृहदक्षता का गर्व है कि मेरा राजपाट भी सब इसी के बुद्धिबल से है । ऐसी ठान, रानी को एकदम देश निकाला दे दिया । इसमें कोई सन्देह न करे, राजाओं की ऐसी ही दशा होती है । कहा भी है कि—

राजा योगी अग्नि जल, इनकी उलटी रीति ।
जो इनके नियरे वसे, थोडी पालें प्रीतिं ॥ १ ॥

रानीने भी ठान ली कि, अब चल कर उसी कठियारे के यहाँ रहूंगी और राजा को अपने वचन का परिचय दिखाऊंगी । ऐसा विचार वह उसी कठियारे के घर चल दी । जब वहाँ पहुंची, तो उससे निवेदन कर कहने लगी कि हे पिता! तूं मुझे अपने यहाँ रख ले । तेरी टहल (चाकरी) कर दिया करूंगी । जो कुछ मिस्सा-कुस्सा, रूखा सूखा होगा, खा लिया करूंगी । यह कहते कहते उसके संग झट से लकड़ी विनवाने लग गई । लकड़हारा बोला

कि, हम आप एकादशी करते हैं। जिस दिन लकड़ी विक जाती हैं, उस दिन आधी परधी रोटी मिल भी जाती है। जिस दिन नहीं विकती, उस दिन तो घर के मूसे भी एकादशी ही करते हैं।

तव रानीने गिड़ गिड़ा कर कहा कि–जो कुछ मेरे भाग्य का होगा, वह मुझे भी मिल जायगा। इस पर लकडहारे को कुछ दया आ गई। मन में विचार कर कह दिया कि, अच्छा, जैसे हम रहते हैं वैसे ही तूं भी हमारे संग दुःखी सुखी रह। विधाता तेरे भाग्य का भी टुकड़ा देगा। क्या जाने, तेरे भाग्य से हमें ही लेना वदा हो। यह रानी चतुर तो थी ही, एक वोझ उसी लकडहारे की वरावर थोडी ही देर में वीन लिया। दूसरे दिनों में तो उसको चार पैसे की ही लकड़ीयॉ मिलती थी, आज उससे दूनी होगयीं। जव वह लकडी की भारी उठा कर चला, तो यह भी सिर पर लकडी रख कर, साथ ही चल दी। उस लकडहारे की स्त्री का स्वभाव वहुत ही क्रूर था। रात दिन घर में कलह किया करती थी, और उसका नाम भी कुवुद्धि था। दूर ही से दूसरी स्त्री को संग आते देख कर वह वोली कि, आज इतनी

देर क्यों लगा दी ?, हम तो सब भूखे बैठे हैं, बाल बच्चे न्यारे प्राण खाये जाते हैं और मन में कुछ और भी सन्देह करने लगी। सुविद्या तुरन्त ताड गई और कहने लगी कि, माता ! आज और दिन से लकडी भी तो दूनी आई हैं। इसी कारण देर लग गई, और मेरे पिताने मुझ पर दया करके जीवदान दिया है और तेरी सेवा-टहल करने के लिये मुझ पुत्री को लाया है, उस पर क्रोध मत कर। इस देर होने का कारण मैं ही हूं। इस प्रकार मीठे मीठे वचन कह कर उसे शान्त किया और उन लाई हुई लकडियों के तीन बोझ (भारे) बना कर बाप बेटों पर रख दिये कि, वेच आओ। और दिनों में तो चार पैसे की लकडी बिकतीं थी, आज वेही दस पैसे की बिकीं। क्यों कि, तीन बोझ थे। उस दिन छः पैसे का तो भोजन मंगवाया और चार पैसे को बचा रक्खा। दूसरे दिन इस सुविद्याने उसके दोनों लडकों को भी पिता के संग बहला पुछला कर, एक एक पैसे का लालच दे लकडी बीनने, और बेचने को भेजा और आप एक पडोसिन के यहाँ आटा पीसने की युक्ति लगा ली। यह लकडहारा पकी हुई रोटी लाता था। परन्तु उस दिन भी

जब एक एक पैसे देकर चार पैसे वच रहे और घर ही भोजन वनाने से सव का पेट उसीमें भर गया जिसमें और दिन भूखे रहते थे। तब उन वचे हुए पैसो की इसने रुई मँगाई और उसे अपनी पडोसिन के खाली चर्खे से कात कात कर सूत वेचा। इसी प्रकार महीने में इसके पास एक रुपया बच गया। उसकी उसने लकडहारे को एक कुल्हाडी मोल दिलवा दी और कहा कि बीनने से तो ईंधन थोडा और छोटा छोटा आता है। इस कुल्हाडी से काट काट कर अच्छी मोटी मोटी लकडी लाया करो, जो अधिक दामो की विके और कुछ पाडोसिन से उधार लेकर उससे सुई, कतरनी, पेचक और कपडा मँगवा लिया। उस से ही आप टोपियाँ वनाने लगी। उधर दस बीस घरों से मेल–मिलाप कर लिया। जव कोई वस्तु चाहिये, माँग लावे और काम निकाल कर दे आवे। किसीके लडके की टोपी सी दे और किसीका कुर्त्ता। खाँसी और दस्तों की औपध वना कर रख ली और सव को बांटने लगी। इससे तो यह रानी सव की वहुत ही यानी वन गई।

लकडी अव पांच छः आने की नित्य विकने

लगीं। दो दो तीन तीन आने की टोपियाँ विकने लगीं, थोडे ही दिनों में दस पांच रुपये जुड गये। अब इसने रसोइ के वर्त्तन खरी दे और रहने का मकान भी लीप छाव कर स्वच्छ किया, जिससे कि बाहर से आनेवालों को वैठने का सुभीता हो गया। आप भी टोपियाँ आदि वनाती थी और पड़ोसिनों की लडकियों को भी वनाना सिखाती थी। इसके बने हुए रुमाल, दुपट्टे, सुन्दर और चिकने होने से अधिक मूल्य में विकने लगे। जब कुछ फिर द्रव्य एकत्र हुआ, तो इसने धर्मपिता को दो गदहे मोल ले दिये और कहा कि, अब लकडी इन पर लाद कर लाया करो और बेचो मत, इकठी करते जाओ जब वर्षा होगी, तब बेचेंगे, जिससे दाम अधिक मिलेंगे और लिये लिये भी बेचने को मत फिरो। एक टाल कर लो, वहाँ बैठे बैठे वर्षा में बेचा करना। अब तो ला ला कर केवल जोडते ही जाओ।

लकडहारेने सोचा, बात तो अच्छी है। जब पेट भर कर खाना मिलने लगा, तो कुबुद्धि भी प्रसन्न रहने लगी और मनमें विचारने लगी कि, एक यह भी स्त्री है जो ऐसी चतुर है कि, जब से हमारे यहाँ आई है, क्या से क्या हो गया और एक

मै हूँ कि, नित्य कलह करती हूँ। जिस दिन से यह आई है, उस दिन से हमारे घर में लडाई का अब कोई नाम भी नहीं जानता। ऐसे ऐसे विचार करके थोड़े ही दिनों में कुबुद्धि भी बुद्धिमती हो गई। जब लकड़हारे के यहाँ इतना हो गया, तब सुविद्याने अपना और भी वैभव फैलाया। वह क्या था कि, अब स्त्रियों और बालक बालिकाओं की दवाई करने लगी। रानी तो थी ही; सब जानती ही थी। इससे यह नगर भर में प्रसिद्ध होने लगी और घर घर से बुलावे आने लगे। एक तो इसकी दवाई बहुत अच्छी थी, दूसरी इसकी बोलचाल, रहन सहन, शीलस्वभाव, दया, नम्रता आदि ऐसे थे कि, मन हर लेती थी। जिसके यहाँ एक बार हो आई, उसके यहाँ से सदा के लिये आह्वान (बुलावे) आने लगे। यहाँ तक कि अनेक घरों से अनेक वस्तुऑ भेट आने लगीं। अब तो इसका घर सब प्रकार से भरा पूरा रहने लगा तथा एक बात और कि, पड़ोस की लडकियो को अपने पास ले बैठे और उन को पढ़ाया करे। उनके संग अपने दोनो भाईयो (लकड़हारे के दो पुत्रो) को भी पढा लिया और थोड़ा सा लेखा-जोखा

अपने पिता (लकड़हारे) को भी सिखा दिया। इसका ऐसा नाम नगर में हुआ कि, भले घर की वहू वेटियों के यहाँ भी यह जाने लगी और कुछ मासिकवेतन भी दो चार वड़े वड़े घरों से पाने लगी। सेठ साहूकारों के घरों में जाने से इसकी प्रतीति और भरोसा वढ़ गया। यदि इसको १००, या ५० रुपये की आवश्यकता हो तो मिलने लगे।

जव इसका ऐसा हाल हो गया, तव इसने दो चार साहूकारों से कह सुन कर अपने नाम का माल उनके रुपयों से भरवा और उन्हीं से एक भरोसे का गुमास्ता नौकर रखवा कर अपने पिता को उसके संग भेजा, और कहा कि, इसको जा कर दूसरे देशों में वेच लाओ और जो कुछ वस्तु उन देशों में सस्ती हो, इसके पलटे में भरते लाना। यह कह उनको तो वहाँ रवाने किया और भाईयों से कहा कि, अव तुम सेठ साहूकार और भले मनुष्यों में वैठते उठते हो, तो अव इस प्रकार रहना चाहिये कि, कोई अपने मनमें तुम से घृणा न करे और पास वैठने और वैठाने में सकुचे नहीं, सो यह करना चाहिये कि, प्रथम तो रहने का घर उत्तम प्रकार का वनाना चाहिये, जिसमें किसी

उँचे कुल की बहू बेटी आवे तो अच्छी तरह सभ्यतासे बैठें उठें। इस लिये प्रथम किसी साहूकार की हवेली भाड़े पर ले लो, उनसे हमारी रीति भाँति भी अधिक प्रशस्य हो जावेगी। ऐसा विचार कर एक हवेली भाडे पर लिवा ली और उसीमें सब रहने लगे। दूसरी बात यह कि सदा से अपना धन्धा लकडी का है। यद्यपि हम उत्तम कुलीन है और धन्धा अधम है तथापि उसे नहीं छोडना चाहिये। परन्तु तुमको मैं बताऊं सो करो कि इस टाल में तो लाभ थोडा होता है और लकडी बेचनेवाले टालवाले ही कहलाते हैं। तुम कुछ मिस्तरी रख लो और बडे बडे पेड—साल, शीशम, आम, नीम आदि को मोल ले लेकर उनकी कुर्सी, मेज, सन्दूक, आदि ऐसी ऐसी कारीगरी की चीजें बनवाओ और रुपया जितना चाहिये, कारखाने के लिये उधार ले लेवें। नदी के तिरवर्ती किसी बडे वन से काट काट कर अच्छी लकडी मँगवाओ, जिनकी ये वस्तुएँ सुन्दर बनने में आवें। ऐसा विचार एक साहूकार से दो हजार रुपया उधार लिये। इन रुपयों से उन्हों ने लकडी मोल लेकर वे वस्तुएँ बनवाई, जो दुगुने चौगुने दाम की बिकीं। उधर

लकडहारा माल को दुगुने मूल्य पर वेच कर, और दूसरी नाना जाति की वस्तु लाद कर लाया, जो हाथों हाथ दूने और चौगुने दाम में उसी वक्त बिक गई। जिससे इनको खूब लाभ हूआ। जो रुपया लोगों का उधार लिया था, वह व्याज समेत चूकता दे दिया और जो वचा उसको अपने घर में रख लिया।

अब तो थोडे ही दिन में दस वीस हजार की पूंजी इनके घर में हो गई। दूसरे से भी उधार लेने की कुछ आवश्यकता न रही। पर सुविद्याने सोचा कि, अभी अपने घर के रुपयों से व्यवहार करना अच्छा नहीं है। एक बार और इसी प्रकार अपने पिता को भेज दूँ और जब अव के लाभ हो। तब उसके पीछे फिर उधार न लेंगे। ऐसा सोच कर एक दो महिने पीछे फिर अपने पिता और गुमास्ते को पहिले की बराबर माल भरवा कर साहूकारों से लदवा दिया।

अब तो सेठ साहूकारों में इनकी बडी साख (इज्जत) हो गई थी। सबने वे कहे सुने माल भर दिया। इधर इसने किसी ब्राह्मण के अच्छे कुल में अपने दोनों भाईयों के विवाह की सट्ट लगाई और तुरन्त

दोनों की सगाई करके चट्ट विवाह करा दिया। क्यों कि अव तो वहुत से अपनी अपनी वेटी देने को चाहते थे। जव इसका पिता लकडहारा परदेश से उलट कर आया और पहिले से भी अधिक लाभ हुआ, तव तो इन्होंने हुण्डी की कोठियॉ खोल दीं दूसरे नगरों में आढ़त डाली और सेठ वन वैठे, और ये सुविद्या के सुप्रवन्ध से जगत् सेठ की पदवी भी पा गये।

सुविद्याने देखा कि अव अवसर है कि, राजा को अपने वचन का परिचय दिखाऊं कि, मेरा कहना सत्य था, वा असत्य। यह विचार वह अपने धर्मपिता से वोली कि, अव आप जगत् सेठ कह-लाते हो और देश देश की अलभ्य वस्तुएँ आपके यहाँ आती है। कुछ अच्छी अच्छी वस्तुएँ ले कर राजा को भेट करना चाहिये। अपना यह धर्म है कि, अपने देश के राजा को अपने से प्रसन्न रक्खें। अव तक तो हम लोग किसी गिनती में न थे, पर अव तो वडे हो गये। न जाने, किस समय काम पडे। इस कारण आप अमुक अमुक कामदार से मिलो। फिर पीछे उनके द्वारा आपका मिलाप राजा से हो जायगा।

यह तो रानी थी, सब रीति भाँति राजद्वार की जानती थी। इसके पिताने कहा कि, मैं क्या जानूं इन बातों को। मैं तो लकड़हारा हूं। नहीं जानता कि, राजासे कैसे मिलते हैं?, रानीने उसको इस प्रकार की सब बातें समझा बुझा कर उसे राजा के पास भेज दिया। जिस प्रकार कि सुविद्याने पेश्तर इसको बताया था, यह उसी प्रकार राजा से मिला और घर आ कर सब वृत्तान्त कहा। थोड़े दिन पीछे सुविद्याने इसे फिर भेजा। इसी प्रकार दो चार मर्त्तवा मिला-भेंटी हुई, जिसमें यह सब बात जान गया और राजा से अधिक मेल मिलाप हो गया। जब इस प्रकार हो चुका, तब सुविद्याने कहा कि, पिताजी! आप राजा का भोजन एक बार अपने यहाँ कराओ। आप कहना कि, महाराज! इस दास के घर को भी किसी दिन पधार कर सुशोभित करिये और अपने चरणकमल से पवित्र कीजियेगा। इस प्रकार जब राजा से निवेदन किया, तो राजाने स्वीकार कर लिया और एक दिन नियत कर दिया कि, फलाने दिन हम आवेंगे। सुविद्या से जब यह आ कर कहा, तो उसने अपनी चतुराई से घर को ऐसा सुसज्जित किया कि, जैसे

राजा महाराजाओं का होता है। और वैसी ही सब सामग्री इकठी भी कर ली। अपनी बुद्धिमानी से राजा की रुचि के वे वे भोजन बनवाये कि, जब राजा आया तब घर की शोभा देखकर और भोजन पाकर अत्यन्त प्रसन्न और आश्चर्य निमग्न हुआ। क्यों कि जब से रानी सुविद्या इसके यहाँ से चली गई थी, इस राजा के यहाँ भी ये बातें न थी। राजा प्रसन्न होकर पूछने लगा कि, कहो, जगत् सेठ! तुम्हारे सन्तान क्या है? उसने उत्तर दिया कि, महाराजाधिराज! आपकी कृपा से दो पुत्र हैं और एक धर्मपुत्री है। वे सब आपके दर्शन की अभिलाषा मे बैठे है। राजाने कहा कि उनको बुलाओ? यह सुन कर दोनो लडकोंने, तो आ कर प्रणाम किया और राजाने जो पूछा, उसका यथोचित उत्तर दिया, जिससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ। क्योंकि सुविद्याने इनको पहिले ही से सब सिखा पढ़ा दिया था कि, राजाओं से यों बोलते चलते हैं। जब राजाने पुत्री के लिये पूछा, तो सेठने कहा कि, महाराज! वह उस कोठरी मे है। आप वहाँ ही पधार कर उसको दर्शन देकर कृतार्थ कीजिये।

यह सुन राजा ज्यों ही उठ कर वहाँ गया,

त्यों ही सुविद्याने उठ कर साष्टाङ्ग नमस्कार पूर्वक राजा का अति आदर और सत्कार किया। राजा को उसकी सूरत देखते ही रानी सुविद्या का स्मरण हुआ कि, यह तो उसकी समान, या वही सुविद्या जान पड़ती है। पर यह जगत् शेठ की पुत्री बनती है, वह क्यों कर होगी ? पर हाँ, एक बात अवश्य है कि, इसकी अवस्था सुविद्या से अवश्य मिलती है। और जगत् शेठ की अवस्था तो इसके बेटे के बरोबर ज्ञात होती है। बेटी बाप से छोटी होना चाहिये व माता की सी सूरत वाली। यह कदापि इसकी पुत्री नहीं है। इसमें अवश्य कुछ न कुछ भेद है। राजा इसी सोच विचार में था कि, सुविद्या राजा के चरणों में गिर पड़ी और कहने लगी कि, आप सन्देह न करिये। मैं जगत् सेठ की पुत्री नहीं हूं। मैं तो आपकी ही दासी हूं और यह सब अपने वचन का परिचय दिखाने और सत्य करने को किया है। यह वही लकडहारा है और मैं वही रानी सुविद्या हूँ। अपराध इस दासी का क्षमा कीजिये और अपनी सेवा में रखिये। इतने दिन मैंने आपके विरह में बडे बडे कष्ट से नीति और धर्म को पाल कर काटे हैं। राजाने यह

सुन कर मन में बहुत लज्जा को स्थान दिया। रानी को घर ले गया और उस जगत्सेठ को अपना आधा राज्य देकर बराबरी का बना लिया।

अन्त में राजा, रानी और वह जगत्सेठ (लकडहारा) सकुटुम्ब पारमेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर और उसे निर्दोष पाल कर सदा शाश्वत सुख विलासी बने।

पाठको ! जिस प्रकार रानी सुविद्याने अपना और अपने सहवासियों का सुधारा किया और उन्हें सद्गुणी बनाकर उभयलोक में सुखी बना दिये। इसी प्रकार एक सद्गुणी स्त्री, अनेक परिचय में आनेवाले व्यक्तियों (स्त्री पुरुषों) का सुधारा बडी आसानी (सुगमता) से कर सकती है। यह बात निःसन्देह समझना चाहिये।

स्त्रियों को सद्गुणी बनने के लिये इस प्रकार अपना रहन सहन बना लेना चाहिये कि, सब के साथ मधुरता से बोलना, नित्य प्रसन्नमुख रहना, किसी की निन्दा, या मर्मोद्घाटन न करना, घर की इज्जत बढाने में कटिबद्ध रहना, एकान्तमें पर पुरुषों से, या कुटिल और निन्दाखोर स्त्रियों

से वात न करना, सव का हरएक काम धीरप और यतना से करना, सव के साथ प्रेम और मेलमिलाप से रहना, घर धन्धे से बचे हुए टाइम में धर्मग्रन्थों का अभ्यास करना, और फिज़ूल वातों में अपना अमूल्य समय वरवाद न करना, सुशील और सदाचारी वनना।

जिससे कषायाग्नि शान्त हो वह मार्ग धारण करना चाहिये—

तं नियमा मुत्तव्वं, जत्तो उप्पज्जए कसायऽग्गी।
तं वत्थुं धारिज्जा, जेणोवसमो कसायाणं ॥ ११ ॥

"तद् नियमेन मोक्तव्यं, यस्मादुत्पद्यते कषायाग्निः।
तद् वस्तु धारयेद्, येनोपशमः कषायाणाम् ॥ ११ ॥"

शब्दार्थ–(जत्तो) जिस कार्य से (कसाऽग्गी) कषायरूप अग्नि (उप्पज्जए) उत्पन्न होती हो (तं) उस कार्य को (नियमा) निश्चय से (मुत्तव्वं) छोड़ना चाहिये और (जेण) जिस कार्य से (कसायाणं) कषायों का (उवसमो) उपशम हो (तं) उस (वत्थुं) वस्तु को–कार्य को (धारिज्जा) धारण करना चाहिये।

भावार्थ–उस कार्य को अवश्य छोड़ देना चाहिये जिससे कि कषायरूप अग्नि प्रदीप्त होती हो

और उस कार्य को अवश्य आचरण करना चाहिये जिससे कि कपायों का उपशम हो।

विवेचन–जिसके निमित्त से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त चारित्र आदि उत्तम गुणों का विनाश हो जावे, तथा चौरासीलक्ष जीव-योनि में अनेक असह्य दुःखों का अनुभव करना पड़े उसका नाम कपाय है। कष–अर्थात् क्लेशों का जिससे आय–लाभ हो सो 'कषाय' कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि अपने अनुरूप संयोग को पा कर प्रदीप्त हुआ करती है, उसी प्रकार कपाय भी अपने अनुरूप संयोगों को प्राप्त कर प्रज्वलित हो उठते है, और उत्तम गुणों का घात कर डालते हैं। कपाय चार हैं–क्रोध १, मान २, माया ३ और लोभ ४। इन चार कपायों के विपय में शास्त्रकारों ने वहुत कुछ उपदेश दिया है, परन्तु यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

क्रोध और उसका त्याग––

अनेक अनर्थों का कारण, वोधिवीज का घातक, दुरितों का पक्षपाती, नरक भवन का द्वार, और चारित्रधर्म का वाधक क्रोध है। कोटि वर्प पर्यन्त की हुई तपस्या इसी क्रोध के प्रसंग से नष्ट हो जाती

है, अत एव इसको शान्त करने का ही उपाय करते रहना चाहिये, क्योंकि क्रोध प्राणी मात्र में परिताप उपजाने वाला है। कहा है कि–

सवैया २३ सा–

रीस सुं जहेर उद्वेग वढ़े अरु,
  रीस सुं शीश फूटे तिन ही को।
रीस सुं मित्र भी दाँत को पीसत,
  आवत मानुष नाहिं कहीं को॥
रीस सुं दीसत दुर्गति के दुख,
  चीस करन्त तहाँ दिन हिं को।
यों 'धर्मसिंह' कहे निशदीह
  करे नहिं रीस सोही नर नीको॥ १॥

भावार्थ–क्रोध करने से एक दूसरों के ऊपर जहर–कुत्सित (खोटें) घाट मढ़ने के विचार करने पड़ते हैं और अनेक उद्वेग (मानासिकक्लेश) खड़े होते हैं; सैकड़ों लोगों के साथ वैर विरोध और माथा कूट (बकवाद) करना पड़ती है, क्रोधावेश में मनुष्य विश्वासी पर भी अप्रियता पूर्वक दाँत कड़ कड़ाता है; और क्रोधी जानकर पाहुना तरीके भी कोई उसके पास नहीं आता, न उसकी कोई

यथार्थ सार संभाल कर सकता है। क्रोध के प्रभाव से ही आखिर खोटी गति में पड़कर नाना प्रकार के बध बन्धनादि दुःख देखना पड़ते हैं, इसलिये सज्जनो को उचित है कि क्रोध के वशवर्त्ती न हों। क्यों कि जो महानुभाव क्रोध नहीं करते संसार मे वेही उत्तम, और सन्मार्गानुगामी हैं।

तिच्छन क्रोध से होय विरोधऽरु,
  क्रोध से बोध की शोध न होई।
क्रोध से पावे अधोगति जाल को,
  क्रोध चॅडाल कहे सब कोई॥
क्रोध से गालि कही वढ़िवेढऽरु,
  क्रोध से सज्जन दुर्जन होई।
यहे ' धर्मसिंह ' कहे निशदीह,
  सुनो भैया क्रोध करो मत कोई॥ २॥

भावार्थ--अत्यन्त क्रोध करने से लोगों के साथ वैरभाव वढ़ता है और यशःकीर्त्ति का सत्यानाश हो जाता है, क्रोध के समागम से सद्ज्ञान व सम्यक्त्व दर्शन की शुद्धि नहीं हो सकती, क्रोध के योग से अधोगति--नरक, तिर्यञ्च, आदि नीच गति का जाल प्राप्त होता है, संसार में सभी लोग क्रोध

को चंडाल के बराबर कहते हैं, जिसके संपर्क से मनुष्य अशुचि हो जाता है, गुस्सेबाज मनुष्य गाली गुसा देकर कंकास (कलह) के वशवर्त्ती होता है, क्रोधरूप अज्ञान के सबब से सज्जन पुरुष भी दुर्जन हो जाता है, इसलिये महानुभावो! क्रोध सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह अनेक सन्तापों का स्थान है। कहा भी है कि—

आप तपे पर संतपे, धन नी हानि करेह।
कोह पइट्ठे देह घर, तिन्नि विकार धरेह॥ १॥

देह—शरीररूप घर के अन्दर उठा हुआ क्रोध अपने को क्लेश, और दूसरों को सन्ताप तथा बाह्याभ्यन्तर धन की हानि रूप तीन विकार पैदा करता है। यह बात अनुभव सिद्ध भी है कि—मनुष्य को जब क्रोध उत्पन्न होता है तब वह थर थर काँपने लग जाता है, और उसके सारे शरीर पर पसीना या ललाई चढ़ जाती है, यहाँ तक कि उस समय में उसके सामने जो अत्यन्त प्रियमित्र भी कोई आ जाय तो भी वह शत्रुभूत मालूम होता है। इसीसे कहा जाता है कि—'क्रोधो नाम मनुष्यस्य शरीराद् जायते रिपुः' मनुष्यों के शरीर से ही क्रोधरूप शत्रु पैदा होता है जिससे धर्म और कुल

कलंकित हो जाता है। क्योंकि 'क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि' अर्थात् क्रुद्ध मनुष्य अपने गुरु को भी मारता है। इसलिये रोप मे जो बुद्धि पैदा होवे उसका अवश्य त्याग करना श्रेष्ठ है, क्योकि किंपाकफल की तरह क्रोध का परिणाम भी अनिष्टकर है।

शास्त्रकारों ने इस विषय में क्रोधफलसंदर्शक अनेक दृष्टान्त दिये है। जैसे 'अच्चंकारीभट्टा' ने क्रोध के सवब से नाना दुःखों का अनुभव कितना किया है? कल्पसूत्र जो प्रत्येक वर्ष पर्युषणा महापर्व में वॉचा जाता है, उसमें भी प्रत्यक्ष एक चण्डकौशिक नाग का दृष्टान्त देख पड़ता है, जो कि पूर्वभव मे एक क्षुल्लक के ऊपर क्रोध करने से ही मर कर अतिनिकृष्ट तिर्यञ्चयोनिक सर्पजाति में उत्पन्न हुआ। इत्यादि आख्यानो का मनन करने से साफ जाहिर होता है कि क्रोध का फल कितना दु:खप्रद और निन्दनीय है, अत. सज्जन महानुभावो! क्रोध को छोडो और क्षमा रूप महागुण को धारण करो, क्यो कि क्षमा से जो कार्य सिद्ध होता है वह क्रोध से नहीं, इसमे कारण यह है कि सपूर्ण

---

१ देखो अभिधानराजेन्द्र कोप के पहिले भाग का १८१ पृष्ठ,
२ और चौथे भागका वीर शब्द।

कार्य को पार लगाने वाली बुद्धि क्रोध के प्रसंग से नष्ट हो जाती है। इसलिये क्रोध को छोड़ कर सर्वाङ्ग सुन्दर क्षमागुण का अवलंबन करना चाहिये, जिससे कि अनेक सद्गुणों की प्राप्ति हो।

मान और उसका त्याग—

मानी मनुष्य के अन्दर विद्या, विनय, विवेक, शील, संयम, सन्तोष, आदि उत्तम गुणों का नाश होता है।

प्राप्त हुई वस्तुओं से अहंकार करने को 'मद' और विना संपत्ति के ही केवल अहंकार रखने को 'मान' कहते हैं।

मद आठ हैं—१ जातिमद—मातृ पक्ष का अहंकार करना, मेरी माता बड़े घराने की है, दूसरों की माता का तो कुछ ठिकाना नहीं है। २ कुलमद—पितृपक्ष का अभिमान रखना, हमारा पितृ पक्ष उत्तम राजवंशी है, दूसरों का कुल तो नीच है। ३ बलमद—अपने को जो सामर्थ्य याने पराक्रम मिला है उसकी प्रशंसा करे और दूसरों को घासफूस के समान समझे। ४ रूपमद—सर्वाङ्गसुन्दर सुरम्य रूप पा कर मनमें समझे कि—मेरे समान संसार में रूपसौभाग्य दूसरे किसी को नहीं मिला है। ५ ज्ञानमद—अनेक प्रकार की विद्याओं

को सीख कर, या षट्दर्शनों के सिद्धान्तो का पारगामी हो कर मन मे विचारे कि–मेरा पराजय कौन कर सकता है, मैने सव पण्डित समूहों का मद उतार दिया है, मेरे सामने सब लोग वेवकूफ (मूर्ख) हैं। ६ लाभमद–मेरे समान भाग्यशाली कोई भी नहीं है, मै खोटा भी कार्य उठाता हूँ तो उसमे लाभ ही मिलता है। ७ तपमद–संसार में मेरी की हूई तपस्या के समान दूसरा कोई नहीं कर सकता, मै महा तपस्वी हूं, देखो ! तपस्या की उत्तमता से लोग मुझे खूब वॉदते, और पूजते है। ऐसा दूसरों को कोई नहीं मानता इस लिये मै ही महा तपोधन हूॅ। ८ ऐश्वर्यमद–ठकुराई व संपत्ति या किसी ओहदे पर आरूढ हो कर घमंडी वन जाना, और दूसरे किसी की आज्ञा नहीं मानना, गद्दी का गधहा बना रहना, दूसरों की और अपने पूज्य लोगो की प्रशंसा नहीं सहन करना, दूसरों को अपना सेवक समझना, और सव कहीं अपनी ही प्रशंसा की चाहना रखना।

ये आठों मद आठो वातों की प्राप्ति में सहायभूत हैं, यथा–जातिमद से नीचजाति, कुलमद

से अधमकुल, वलमद् से निर्वलता, रूपमद् से कुरूपी अवस्था, ज्ञानमद् से अत्यन्त अज्ञानता (मूर्खता); लाभमद् से दरिद्रता, तपमद् से अविरति दशा, ऐश्वर्यमद् से निर्धनता और सब का सेवकपना प्राप्त होता है; अत एव सज्जनों को किसी बात का मद् नहीं करना चाहिये। संसार में ऐसी कोई बात नहीं है जिसका मद् किया जाय। लोगों की भारी भूल है कि थोडी सी योग्यता पाकर अहंकार के वशीभूत हो जाते हैं। परन्तु यह नहीं शोचते कि--

सवैया ३१ सा--

केई केइ बेर भये भूपर प्रचण्ड-भूप,
बड़े बड़े भूपन के देश छीन लीने हैं।
केई केइ बेर भये सुरभोनवासी देव,
केई केइ बेर निवास नरक कीने हैं॥
केई केइ बेर भये कीट मलमूत माहीं,
ऐसी गति नीच बीच सुख मान भीने हैं।
कौड़ी के अनंत भाग आपन विकाय चुके,
गर्व कहा करे मूढ! देख दृग दीने हैं॥१॥

भावार्थ—अनन्त दुःखदावानलसन्तप्त इस

संसार में कई वार ये सकर्मी प्राणीगण प्रभावशाली राजा हो चुके है, और अनेक समय राजाओं के देश छीन कर चक्रवर्ती राजा वन चुके है। तथा कई वार चारों निकाय के उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ देवों में उपज चुके हैं, एवं कई वार नरक गति में पैदा हो कर असह्य दुःख सहन कर चुके है। इसी प्रकार कई वार मल मूत्र कर्दम आदि के मध्यमें कीट योनि में उत्पन्न हो चुके हैं, कई वार अति निन्द-नीय गतियों मे निवास कर नाना दुःखों का अनु-भव होने पर भी सुख मान कर रह चुके हैं, और कई वार चौरासी लक्ष जीवयोनीरूप चौवटा के वीच में कौड़ी के अनन्त वें भाग में विक चुके हैं। इस लिये हे महानुभावो! जरा दृष्टि देकर विचारो कि अव मद किस पर किया जावे, क्यों कि हरएक प्राणी की पूर्वावस्था तो इस प्रकार की हो चुकी है तो ऐसी दशा में गर्व करना नितान्त अयुक्त हे ओर तीनों काल में इससे फायदा न हुआ ओर नहीं होगा। देखो संसार में किसी का मान नहीं रहा, राजा रावण ने अभिमान से 'रामचन्द्र' जेसे न्यायनिष्ट महात्मा के साथ वेर विरोध वढाकर लङ्का का जय-शाली राज्य खो दिया, और आखिर मर कर नरक

कुण्ड में पड़ा तथा दुःखी हुआ, महात्मा 'बाहुबली' मुनि मुद्रा धारण कर एक वर्ष पर्यन्त कायोत्सर्ग ध्यान में खडे रहे, परन्तु अभिमान के सबब से उन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ, किन्तु जब भगवान् श्रीऋषभदेवस्वामीजी की भेजी हुई 'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' ने आकर कहा कि–' हे बंधव! गज ऊपर से नीचे उतरो, गजारूढ़ पुरुषों को केवलज्ञान नहीं होता ' इस प्रकार उत्तमोत्तम प्रभावशाली सुभाषित वचनों को सुन कर शान्तिपूर्वक विचार करने से ' बाहुबली ' ने अपनी गंभीर भूल को स्वीकार कर लिया और विचार किया कि वास्तव में ये महासातियाँ ठीक कहती हैं। मैं मानरूपी हाथी के ऊपर चढ़ा हुआ हूँ, इसीसे अब तक मुझे केवल ज्ञान नहीं हुआ तो अब मुझको उचित है कि इस मानगज से उतर कर अलग हो जाना। ऐसा विचार के मिथ्याभिमान का त्याग किया, फिर क्या था तात्कालिक कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो गया।

पाठक ! जो अभिमान दशा को छोड़ कर विनय गुण का सेवन करता है वह चाहे चक्रवर्त्ती हो या भिखारी, सब साधुभाव में एक समान है। इस विषय में यदि चक्रवर्त्ती यह शोचे कि मैं तो

पहिले भी महा ऋद्धिमान था, और अब भी सब का पुजनीय हूँ तो यह अभिमान करना व्यर्थ है। क्योंकि यह आत्मा संसार में सभी पदवियों का अनुभव अनेक वार कर चुका है। इसलिये संसार में धिक्कार के लायक एक भी प्राणी नहीं है, जो लोग अहङ्कार में निमग्न रहते हैं वे अपने पूर्वभवों का मनन नहीं करते, नहीं तो उन्हें अभिमान करने की आवश्यकता ही न पड़े।

शास्त्रकारों ने मान की महीधर के साथ तुलना की है। पर्वत में जिस प्रकार ऊँचे ऊँचे शिखर होते हैं वे आड़े आ जाने से दुर्लंघ्य हो जाते हैं, उसी प्रकार मान महीधर के भी अष्टमद रूप आठ ऊँचे ऊँचे शिखर हैं वे मनुष्यों के निज गुणों का विकास नहीं होने देते, और सद्गुण की प्राप्ति में अन्तरायभूत होते हैं। जिस प्रकार हाथी मदोन्मत्त हो कर आलानस्तम्भ को और सघन साँकल को छिन्न भिन्न करते देर नहीं करता, उसी प्रकार अभिमानी मनुष्य भी शमतारूप आलानस्तभ को और निर्मल बुद्धिरूप साँकल को तोड ते देर नहीं करता। मानी पुरुषों के हृदय में सद्बुद्धि पैदा नहीं होती, क्योंकि अभिमान के प्रभाव से ज्ञानचक्षु आच्छादित रहते हैं,

इससे उच्चदशा का सर्वथा विनाश हो जाता है। जो महानुभाव अहंकार के कारण सारी दुनिया में नहीं समाते वे भी बेंतभर (अल्पतर) कमरे में समाते देर नहीं करते। अत एव जो सत्पुरुष मान को छोड़ कर विनय गुण का अवलंबन करेंगे वे अनेक सद्गुणों और अनुपम लीला के भाजन बनेंगे।

माया और उसका त्याग–

माया एक ऐसा निन्दनीय दुर्गुण है जो बनी बनाई बात पर पानी फेर देता है, और लोगों में अविश्वासी बना कर लज्जास्पद बना देता है। वस्त्र त्याग कर जन्म पर्यन्त नग्न रहो, केशलुञ्चन करते रहो, जटाधारी बन जाओ, भूमि पर या लोहे के कीलों पर शयन नित्य करते रहो, अनेक प्रकार के व्रत प्रत्याख्यान करके शरीर का शोषण कर डालो, सकल शास्त्रों में पारगामी हो जाओ, ध्यान में स्थित रह कर वर्षों तक बैठे रहो, मौनमुद्रा धारन कर लो, परन्तु जब तक हृदयभवन से कपटरूप दावानल नष्ट नहीं हुआ तब तक पूर्वोक्त एक भी क्रिया फलदायक नहीं हो सकती। क्योंकि आचार्य हो या उपाध्याय, योगी हो या सँन्यासी, साधु

हो या गृहस्थ, क्रियापात्र हो या शिथिलाचारी, पंडित हो या मूर्ख, माया जाल तो सब के लिये दुःखदायक और मुक्तिमार्ग निरोधक ही है।

जिनेश्वरों ने यद्यपि एकान्तविधि और एकान्तनिषेध किसी बात का नहीं निरूपण किया और शरीरशक्ति प्रमाणे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव चतुष्टयी के अनुसार प्रवृत्ति करने की आज्ञा दी है। और पर्षद् में बैठ कर उपदेश दिया है कि–' माया को छोड़ो। जहाँ तक निष्कपट भाव नहीं रखोगे तहाँ तक भला नहीं हो सकेगा। मल्लिजिनेन्द्र ने अपने पूर्वभव में कपट से तप किया जिससे उन्हें स्त्रीगोत्र बाँधना पडा, अतः कपट करना बहोत बुरा है" माया नरक कुंड में जाने के लिये सीढ़ी के समान है, स्वर्ग और अपवर्ग के सुखों को जलाने के लिये दावानल है, ज्ञानेन्दु को ढाँकने में राहु के समान है और सुकृतवल्ली को काटने के लिये कुठार (कुहाड़ी) है।

कुडिलगई कूरमई, सयाचरणवज्जिओ मलियो।
मायावी नरो भुयगव्व, दिट्ठमत्तो वि भयजणओ॥

भावार्थ–मायावी पुरुष वक्रगतिवाला, क्रूर

(दुष्ट) बुद्धिवाला, सदाचरण से वार्जित अर्थात् उत्तम–आचार से रहित, मलिन हृदयवाला और सर्प की तरह देखने मात्र से भय उत्पन्न करनेवाला होता है।

मायावी लोग ऊपर से प्रसन्नवदन और मधुर-वचन बोलने वाले होते हैं, किन्तु उनके हृदय में प्रतिक्षण माया रूप कतरनी चला करती है। भादों में चीभड़े और जुआर के छोड़ देखने में अत्यन्त सुन्दर मालूम होते हैं परन्तु जब पशुओं (ढोरों) के खाने में आ जाते हैं तो उनके शरीर में 'मीणा' रोग पैदा कर मरण के शरण बना डालते हैं। उसी प्रकार मायावी पुरुष भी अपना ऊपरी व्यहार अच्छा बता कर लोगों को फन्दे में डाल देते हैं। दंभी लोग गुणी जनों का किसी समय कुछ छिद्र पाकर उसको विस्तार कर उनका अपवाद उडाने में चतुर हुआ करते हैं, और मायावी सत्य के तो शत्रु ही होते हैं। जैसे भोजन के साथ खाई गई मक्खी खुद प्राण-भ्रष्ट हो कर खानेवाले को भी वान्त (वमन) कराये विना नहीं रहती, इसी तरह मायावी खुद धर्मभ्रष्ट हो कर दूसरों को भी धर्म से वेमुख बना डालते हैं। अतः गुणसंपात्ति की चाहना रखनेवाले

महानुभावों को माया (कपट) और मायावी लोगों का समागम सर्वथा त्याग करना चाहिये।

यदि कहा जाय कि—शास्त्रकारों ने कारणवशात् मायास्थान सेवने की आज्ञा क्यों दी है, क्या किसी कारणवश माया करने में दोष नहीं है ?।

इसका उत्तर यह है कि धार्मिक निन्दा मिटाने के लिये शास्त्राज्ञा से यथाविधि जो मायास्थान को सेवन किया जाता है वह मायास्थान ही नहीं है। क्यों कि उसनें अपना स्वार्थ कुछ भी नहीं है किन्तु जैन शासन की रक्षा है, इससे वह अमायी भाव है। आत्मप्रबोध ग्रन्थ के तीसरे प्रकाश में लिखा है कि—

य· शासनोड्डाहनिवारणाऽऽदि—
सद्धर्मकार्याय समुद्यतः सन्।
तनोति मायां निरवद्यचेताः,
प्रोक्तः स चाऽऽराधक एव सुज्ञैः ॥१॥

भावार्थ—जो शासन की निन्दा निवारण आदि सद्धर्म कार्य के वास्ते उद्यत हुआ पुरुष निरवद्य (निर्मल) परिणाम से मायास्थान का सेवन करता है, वह महर्पियों के द्वारा आराधक ही कहा गया है।

इसलिये धर्म की अपभ्राजना (निन्दा) मिटाने के लिये जो 'माया' है, वह माया नहीं समझना चाहिये, क्योंकि जहाँ जिनेन्द्र की आज्ञा है वहाँ किञ्चिन्मात्र भी दोष संभवित नहीं होता। जो जिनाज्ञा में दोष समझते है वे दिग्मूढ और भवाभिनन्दी हैं, उनका भला नहीं हुआ और न होगा। इससे कारण की वातों को धर्ममार्ग में कभी नहीं लेना चाहिये, उत्सर्ग से तो सकल शास्त्रों ने मायास्थान सेवन करने का निषेध ही किया है। इससे जो सद्गुणी वनना हो, और आत्म निस्तार करना हो तो माया का सर्वथा त्याग करो, क्योंकि हर एक गुण की प्राप्ति निष्कपटभाव के विना नहीं हो सकती !

लोभ और उसका त्याग—

अज्ञान रूप विषवृक्ष का मूल, सुकृतरूप समुद्र को शोषण करने में अगस्त्यऋषि के समान, क्रोधानल को प्रदीप्त करने में अरणिकाष्ठ के समान, प्रतापरूप सूर्य को ढाँकने में मेघसमान, क्लेशों का भवन, विवेकरूप चन्द्रमा का ग्रास करने में राहु के समान, आपत्तिरूप नदियों का समुद्र, कीर्तिरूप लता का विनाश करने में उन्मत्त हस्ति के समान लोभ है।

क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का, और लोभ से प्रीति, विनय, मित्रता आदि सब सद्‌गुणों का नाश होता है। सव दर्शन-कारों का यही मन्तव्य है कि लोभ से लाभ कुछ नहीं है प्रत्युत हानि तो अवश्य ही होती है। लोभ का यह स्वभाव ही है कि ज्यो ज्यों अधिक लाभ हुआ करता है त्यों त्यों उसका वेग अधिकाऽधिक वढ़ा करता है, और उस लोभ के नशे में आपत्तियाँ भी संपत्तिरूप जान पडती हैं। लोभी मनुष्य की इच्छा अपरिमित होती है जिसका अन्त ब्रह्मा भी नहीं पा सकता। सव समुद्रो मे स्वयंभुरमण अस-ख्येय योजन प्रमाण का गिना जाता है उसका पार मनुष्य किसी काल में नहीं पा सकता, परन्तु किसी देव की सहाय मिल जाय तो उसका भी पार करना कोई भारी वात नही है, लेकिन हजारों देवेन्द्रों का सहाय प्राप्त होने पर भी लोभाम्वुधि का तो पार नहीं आ सकता। सर्वज्ञ भगवन्तोंने सूत्रों के द्वारा निरूपण किया है कि—

सुवण्णरूप्पस्स य पव्वया भवे,
सिया हु केलाससमा असंखया।

नरस्स लुद्धस्स न तेहिँ किंचि;
इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥

भावार्थ—एक लक्ष योजन प्रमाण सुमेरु पर्वत के वरावर स्वर्णमय और रूप्यमय असंख्यात पर्वत भी प्राप्त हो जाँय तो भी लोभी को उससे लवलेश भी तृप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। जैसे आकाश अन्त रहित है, वैसे इच्छा भी अन्त रहित है।

जैसे किसी मनुष्य को 'सन्निपात' हो जाता है तव वह अपने स्वभाव को भूल कर अनेक चेष्टा करने लगता है। उसी तरह लोभी मनुष्य भी नाना चेष्टाओं के चक्र में घूमने लग जाता है, और हिंसा, चोरी, झूठ, विश्वासघात आदि कुकर्मों से लोभ का खड्डा पूरा करने में उद्यत बना रहता है, परन्तु तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती। एक कवीश्वरने लिखा है कि—

जो दश वीस पचास भये,
शत होत हजारन चाह चगेगी।
लाख करोड अर्व्व खर्व भये,
पृथ्वीपति होनकी चाह थगेगी॥

स्वर्ग पाताल को राज कियो,
तृष्णा अति से अति लाय लगेगी ।
'सुन्दर' एक सन्तोष विना,
शठ ! तेरि तो भूख कदी न भगेगी ।१।
तीनोंहि[1] लोक मे अहार कियो,
अरु सर्व समुद्र पीयो है पानीं ।
और जठे तठ ताकत बोलत,
काढ़त ऑख डरावत प्रानी ।
दॉत देखावत जीभ हलावत,
ताहिते मै तोय डाकन जानी ।
खात भये कितनेई दिन,
हे तृसना ! अंजहू[2] न अघानी[3] ॥२॥

लोभाम्बुधि में अनेक राजा, महाराज, सेठ, साहूकार, देव दानव, इन्द्र आदि हाय हाय करते तना चुके हैं किन्तु तो भी तृष्णा डाकिनी को सन्तोष नहीं हुआ। स्वर्णमृग के लोभ से रामचन्द्रजी अनेक दुःखों के पात्र वने थे–इसी पर एक कवि ने कहा है—

"असम्भवं हैममृगस्य जन्म,
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।

---

१ जहॉं तहॉं, २ अब भी, ३ तृप्त हुई ।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले,

धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति ॥१॥"

भावार्थ—सुवर्ण का मृग होना असंभव है, यह जानते हुए भी रामचन्द्रजी मायामय मृग के लिये लोभी हुए। प्रायः करके जब विपत्ति आने वाली होती है तब लोभवश मनुष्यों की बुद्धि भी मलिन हो जाती है।

स्त्रियों के लोभ से रावण और धवल सेठ, धन के लोभ से मम्मण और सागर सेठ, सातवें खण्ड के लोभ से 'ब्रह्मदत्त' चक्रवर्त्ती आदि अनेक महानुभाव संसार में नाना कदर्थनाएँ देख कर नरक–कुण्ड के अतिथि बने हैं। अतः लोभ करना बहुत ही खराब है और अनेक दुर्गुणों का स्थान, तथा संपत्तियों का नाशक है। जब तक सन्तोष महागुण का अवलम्बन नहीं लिया जावे तब तक लोभदावानल शान्त नहीं होता। संसार में प्राणी-मात्र को खाते, पीते, भोग करते और धन इकठा करते अनन्त समय बीत गया है परन्तु उससे हाल तक किंचिन्मात्र तृप्ति नहीं हुई और न सन्तोष लाये विना तृप्ति हो सकेगी। क्योंकि सन्तोष एक

ऐसा सद्गुण है जिसके आगे तृष्णा का वेग बढ़ ही नहीं सकता, कहा भी है कि—

गोधन गजधन वाजिधन, अरु रत्न की खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूलि समान॥

भावार्थ—जगत में गौ, हाथी, घोड़ा आदि अनेक प्रकार का धन विद्यमान है और रत्नों की खानियाँ भी विद्यमान हैं, परन्तु वह सब धन चिन्ताजाल से आच्छादित होने से तृप्ति का कारण नहीं है, किन्तु लाभ के अनुसार उत्तरोत्तर तृष्णा का वर्द्धक है। इस लिये जब हृदय में सन्तोष महाधन संगृहीत होता है, तब बाह्य सब धन धूल के समान जान पड़ता है।

अत एव लोभदशा को समस्त उपाधियों का कारण समझ कर छोड़ना ही अत्युत्तम और अनेक सद्गुणो का हेतु है। कारण यह है कि तृष्णा का उदर तो दुष्पूर है उसका पूरना बहुत ही कठिन है। उत्तराध्ययन सूत्र के ८ वें अध्ययन में लिखा है कि—

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स।
तेणा वि से न सतुसे इइ दुप्पूरए इमे आया ॥१६॥

भावार्थ—' कपिलमुनि ' विचार करते हैं कि यदि किसी पुरुष को समस्त मनुष्यलोक और इन्द्रलोक का भी संपूर्ण राज्य दिया जाय, तो भी उतने से वह सन्तोष को नहीं पाता, इससे तृष्णा दुष्पूर्य है अर्थात् इसकी पूर्त्ति के लिये संतोष के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं।

इससे सन्तोष गुण का ही हर एक प्राणी को अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि सन्तोष के आगे इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र, और चक्रवर्त्ती की समृद्धियाँ भी तुच्छ हैं, सन्तोष में जो सुख का अनुभव होता है वह इन्द्रों को भी प्राप्त नहीं होता, संतोषी पुरुष मान पूजा कीर्त्ति आदि की इच्छा नहीं रखता, और सर्वत्र निस्पृहभाव से धर्मानुष्ठान करता है। जो लोग सन्तोष नहीं रखते, और हमेशा लोभ के पंजे में फसे रहते हैं, वे ' निष्पुण्यक ' की तरह महादुःखी होकर और पश्चात्ताप करते हुए सब के दास बनते हैं।

' निष्पुण्यक ' ने धन की आशा से देवरमण यक्षराज के मन्दिर में बैठकर जब मरना चाहा तब यक्षराज ने प्रत्यक्ष हो कर कहा कि—अरे ! तेरे भाग्य में धन नहीं है, व्यर्थ ही यहाँ पर क्यों प्राण-

मुक्त होता है ?। निष्पुण्यक ने जवाव दिया कि यदि भाग्य में ही धन मिलना होता तो आपके पास मुझे आने की क्या आवश्यकता थी ?, अतः मुझे धन दीजिये, नही तो आप ही के ऊपर प्राण-त्याग कर दूँगा। यक्ष ने खिन्न हो कर अन्त में कहा कि–अरे मूर्ख ! यहाँ पर निरन्तर प्रात. समय स्वर्णमय मयूर आकर नृत्य करेगा, और एक एक स्वर्णमय पींछ (पक्ष) नित्य डालेगा उसको तूँ ले लेना। ऐसा कहकर यक्ष तो अदृश्य हो गया। तदनन्तर ' निष्पुण्यक ' यक्ष के कथनानुसार नित्य एक एक पांख लेने लगा। ऐसे वहुत दिन व्यतीत होने पर लोभ का पूर वढ़ने से दुर्भाग्यवश निष्पुण्यक सोचने लगा कि यहाँ कहाँ तक वैठा रहूं, कल मयूर आवे तो पकड लूं जिससे मेरा दरिद्र दूर हो जावे। ऐसा मानसिक विचार करके जव प्रात.काल मयूर नाचने को आया कि–झट उसको पकड़ने के लिये दौड़ा, इतने में वह मयूर काकरूप होकर निष्पुण्यक के मस्तकपर चञ्चुप्रहार दे कर उड़ गया, और जो पांखे इकठी की थीं वे सव कौआ की पांखे हो गई, जिससे वह ' निष्पुण्यक ' अत्यन्त दु.खी हो पश्चात्ताप का पात्र वना और

लोगों की सेवा चाकरी कर अपना निर्वाह चलाने लगा, तथा संसार का भाजन वना।

इस कथा का तात्पर्य यह है कि बुद्धिमानों को सन्तोषरूप महागुण को धारण करना चाहिये, और लोभदशा को छोड़ देना चाहिये, क्योंकि स-सन्तोष और शान्त गुण के प्रभाव से ही मौनीन्द्र और योगिराज जंगलवास कर, मन वचन और काया की चपलता का निरोध, तथा सांसारिक वासनाओं का प्रपञ्च छोड कर अनन्त सुखानुभव करते हैं।

सन्तोष के बल से ही सारा संसार वशीभूत होता है। शरीरारोग्यता का असाधारण औषध, दरिद्रता का वैरी, मोहराज के सैन्य को चूर्ण करनेवाला, कामरूपी हस्ती का प्रहारकारक और द्वेषरूपी उन्मत्त हाथी को भक्षण करनेवाला सिंह के समान एक सन्तोष ही है। अत एव जिसको सन्तोष प्राप्त हुआ है उसको तीनलोक का साम्राज्य हस्तगत समझना चाहिये, जो बात असन्तोषी को सैकडों उपाय से सिद्ध नहीं होती, वह सन्तोषी को विना परिश्रम ही सिद्ध हो जाती है।

इसलिये तीन प्रकार की एपणाओं की कनिष्ठ जाल से लपेटी हुई लोभदशा को घोर संसारवर्द्धिका और अनेक कष्टदायिका समझ कर सर्वथा त्याग देना ही चाहिये, और सन्तोष गुण का आश्रय ले कर अनेक सद्गुण और अनन्त सुख होने का सन्मार्ग पकडना चाहिये।

कषायों का त्याग अवश्य करना चाहिये—

कषायों के प्रभाव से ही यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करता चला आया है और नाना गतियों में दुःख सहता रहता है। संसार मे जो वध वन्धन आदि दुःख देखे जाते हैं, वे सव

---

(१) "लोके मे विततोऽस्तु कीर्त्तिरमला लोकैपणेत्युच्यते,
सच्छिष्यात्मजसस्पृहा निगदिता पुत्रैपणा कोविदै।
नित्त मे विपुलं भवेदिति हि तु ख्याताऽस्ति वित्तैपणा,
ता एता अपहाय मुक्तिपथिकः सन्न्यासमालम्बते" ॥१॥

भावार्थ—ससार में मेरी निर्मल कीर्त्ति फैले, अर्थात सव जगह मेरी प्रतिष्ठा वढे, सव लोग मेरी निरन्तर स्तुति करते रहें और सव कार्यों में मेरी सफलता होवे इत्यादि आशा करने का नाम 'लोकैपणा' है १, अच्छे अच्छे गुणवान कुलवान, रूपलावण्यादिसपन्न पुत्र पुत्री व शिष्य हों इत्यादि विचारने का नाम 'पुत्रैपणा' है २, और नाना प्रकार की सपत्तिया मुझे प्राप्त हों, और मैं धन से सव जगह प्रसिद्ध होऊँ, इत्यादि वाछा रखने का नाम 'वित्तैपणा' है। इन तीन एपणाओं को छोड कर मुमुक्षु लोग सन्यास अर्थात् योगाभ्यास का अवलम्बन लेते हैं।

कषायों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। देखिये कषायों के आवेश में ही मनुष्यादि प्राणी युद्ध करते हैं, और सम, विषम और भयङ्कर स्थानों में गमन करते हैं, तथा अनेक संबन्ध जोड़ते हैं, एवं राज्यादि समृद्धि का संग्रह करते हैं, और परस्पर एक दूसरे के साथ मात्सर्यभाव रखते हैं, इसी प्रकार गुणिजनों की निन्दा, धर्म की अवहेलना और असत्यमार्ग का आचरण करते हैं, तथा परस्पर वैर विरोध बढ़ाते हुए परस्पर एक दूसरे को विना कारण कलङ्कित करते हैं; इत्यादि अनेक दुर्गुण कषायों के संयोग से आचरण करना पड़ते हैं, जिससे किया हुआ धर्मानुष्ठान भी निष्फल हो जाता है, और तज्जन्य फलों का अनुभव भी विवश हो कर भोगना पड़ता है। इसी कारण से कषायसंपन्न मनुष्यों की पालन की हुई संयम क्रिया भी सफल नहीं होती, किन्तु प्रत्युत उसका फल नष्ट हो जाता है। लिखा है कि—

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए अ पुव्वकोडीए।
तं पि कसायपमत्तो, हारेइ नरो मुहुत्तेणं ॥ १ ॥

भावार्थ—देशोन पूर्वक्रोड वर्ष पर्यन्त पालन

किये हुए चारित्रगुण को मनुष्य कषायों से प्रमत्त हो कर अन्तर्मुहूर्त्त मात्र में हार जाता है।

शास्त्रकारों ने कषायों के भेद इस प्रकार दिखायें है कि—

१ अनन्तानुवन्धी—क्रोध, मान, माया और लोभ। 'अनन्तानुवंधी' उसको कहते है जिसके उदय से सम्यक्त्वादि सद्धर्म की प्राप्ति न होवे और जो कदाचित् प्रथम सम्यक्त्व आया हो तो भी वह नष्ट हो जावे। अनन्तानुवन्धी क्रोध–पर्वत की रेखा समान, मान–पत्थर के स्तंभ समान, माया–कठोर बॉस की जड समान, और लोभ कृमि के रंग समान, है। यह कषाय उत्कृष्ट से जावज्जीव तक रहता है, इसके उदय से देव, गुरु, धर्म के उपर यथार्थ श्रद्धा नहीं होने पाती और इस के उदय से वारंवार चार गति के दुःख प्राप्त होते हैं।

२ अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया और लोभ। 'अप्रत्याख्यानी' उसको कहते है जिसमें विरति रूप परिणाम नहीं हो और समकित की प्राप्ती होने पर भी देशविरति का उदय न हो। अप्रत्याख्यानी क्रोध पृथ्वी की रेखा समान, मान–

अस्थिस्तंभ समान, माया मेंढकश्रृंग समान, और लोभ–नगर खाल (खात) के कीचड समान है। यह कषाय उत्कर्ष से एक वर्ष पर्यन्त रहता है, और तिर्यग्गति का निबंधक, एवं व्रतोदय का रोधक है।

३ प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया और लोभ। 'प्रत्याख्यानी' उसको कहते है जिससे चारित्र धर्म का नाश हो जाय ! प्रत्याख्यानी क्रोध रेत की रेखा समान, मान काष्ठस्तंभ समान, माया–गोमूत्र समान और लोभ गाडी के खंजन (कीटा) समान है। इसकी स्थिति उत्कृष्ट से चार महीने की है और इससे मनुष्य गति मिलती है।

४ संज्वलनीय–क्रोध, मान, माया और लोभ। 'संज्वलनीय' उसको कहते हैं जिसमें परीषह और उपसर्ग आ पडने पर जो साधुओं को भी औदयिक-भाव में स्थापन करता है और जिससे 'यथाख्यात-चारित्र' उदय नहीं होने पाता। संज्वलनीय क्रोध–जलरेखा समान, मान–तृणशलाका समान, माया–वाँस की छाल समान, और लोभ हलदीरंग समान है। इसका उदय उत्कर्ष से पन्द्रह दिन तक रहता है, और इससे प्रायः देवगति मिलती है।

परानिन्दा, परस्त्रीगमन, परधनहरण आदि कारणों से क्रोध का उदय, दूसरों को घास फूस समान तुच्छ समझने से मान का उदय, अपनी पूजा, सत्कार योग्यता की चाहना रखने से माया का उदय, और इन्द्रिय को अपने वश में न करने से लोभ का उदय होता है। इसी सवव से दर्शनसंस्थापक महर्षियो ने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष, इन छे अन्तरङ्ग शत्रुओं को जीतने के लिये वड़े जोरशोर से उपदेश दिया है, क्योकि येही शत्रु प्रत्येक सन्मार्ग के घातक हैं।

जो स्त्री अपनी विवाहिता नहीं है और न अपने स्वाधीन है, अथवा जिसका एक देश से या सर्वदेश से त्याग कर दिया है, उसके साथ विषयसेवन अथवा विषयसेवन की इच्छा करने को 'काम' कहते है। अपने और दूसरों के चित्त को परिताप उपजाने वाले हेतु को ' क्रोध ' कहते है। खर्च करने योग्य सुस्थान में धन खर्च नहीं करना, मर्यादा से अधिक इच्छा का फैलाना, धन स्त्री कुटुम्ब के ऊपर अत्यन्त आसक्त रहना और आठों प्रहर यह मेरा यह मेरा करते रहने को ' लोभ ' कहते हैं। हठवाद, असदाग्रह और कुयुक्तिमय—अज्ञानदशा

में पड़ कर और मिथ्याभिमान में निमग्न हो सत्य वात को भी स्वीकार नहीं करने को 'मोह' कहते हैं। जाति, कुल, वल, रूप, ऐश्वर्य आदि के अभिमान से दूसरों को तुच्छ समझने को 'मद' कहते हैं। दूसरों को दुःखी देख कर और द्यूत, क्रीडा, मृगया (शिकार) आदि कुकार्यों में आनन्दित होने को 'हर्ष' कहते हैं।

काम से ब्रह्मचर्य का, क्रोध से क्षमा महागुण का, लोभ से सन्तोष का, मोह से विवेक का, और हर्ष से नीतिमार्ग का विनाश होता है। अत एव गुणवान् वनने का मुख्य उपाय यही है कि सर्व प्रकार से अकषायी भाव को धारण कर निरवद्य क्रियानुष्ठान करना। आत्मप्रबोध ग्रन्थ के तीसरे प्रकाश में लिखा है कि—

तत्तमिणं सारमिणं, दुवालसंगीऍ एस भावत्थो।
जं भवभमणसहाया, इमे कसाया चइज्जंति ॥१॥

भावार्थ—समस्त द्वादशाङ्ग वाणी का तात्पर्य यही है, सब धर्मों का तत्त्व भी यही है और निर्मल संजमपरिपालन का सार भी यही है कि—संसार पर्यटन में सहायता देनेवाले क्रोधादि कषायों का हर प्रकार से त्याग करना चाहिये।

इसलिये शान्ति महागुण को धारण करने में सदा उद्यत रहना, क्यों कि–शान्तस्वभाव से क्रोध का, विनय भाव से मान का, सरलता से माया का, और सन्तोष महागुण से लोभ का नाश होता है। ग्रन्थकारों का यहाँ तक मन्तव्य है कि–एक एक कषाय का जय करने से क्रमशः सब का जय होता चला जाता है और अन्त में अकषायित्व भाव से ससार का अन्त हो जाता है।

श्रीआचाराङ्गसूत्र के तीसरे अध्ययन के ४ चौथे उद्देशे में लिखा है कि–

जे कोहद्सी से माणदंसी, जे माणद्सी से मायदंसी, जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी, जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भ-दंसी से जम्मदंसी, जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से णिरयदंसी, जे णिरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

भावार्थ—जो क्रोध छोडता है वह मान को छोडता है, जो मान को छोडता है वह माया को छोडता है, जो माया को छोडता है वह लोभ को

छोडता है, जो लोभ को छोडता है वह प्रेम (राग) को छोडता है, जो प्रेम को छोडता है वह द्वेष को छोडता है, जो द्वेष को छोडता है वह मोह को छोडता है, जो मोह को छोडता है वह गर्भवास से मुक्त होता है, जो गर्भ से मुक्त होता है, वह जन्म से मुक्त होता है, जो जन्म से मुक्त होता है वह मरण से मुक्त होता है, जो मरण से मुक्त होता है वह नरक गति से मुक्त होता है, जो नरकगति से मुक्त होता है वह तिर्यञ्चगति से मुक्त होता है, और जो तिर्यञ्चगति से मुक्त होता है वह सब दुःखों से मुक्त होता है।

सूत्रकार का यह कथन सर्वमान्य हेतुगम्य और प्रशंसनीय है। जिसने क्रोध को जीत लिया है और शान्तता धारण कर ली है उनके दूसरे दुर्गुण क्रमशः आप ही नष्ट हो जाते हैं, फिर उन की आत्मा कर्ममल रहित हो अनन्त सुखविलासी वन जाती है। इसी लिये—

से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च माणं च मायं च लोहं च पेज्जं च दोसं च मोहं च गब्भं च जम्मं च मरणं च तिरियं च दुक्खं च; एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकारस्स।

भावार्थ—इस प्रकार बुद्धिशाली महानुभावों को अनेक सद्गुणों के घातक क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, मोह आदि दोषों को दूर कर गर्भ, जन्म, मरण, नरक और तिर्यञ्चगति आदि के दुःखों से वचना चाहिये; यह तत्त्वदर्शी शस्त्रत्यागी संसारान्तकर्ता भगवान् महावीरस्वामी का सर्वमान्य दर्शन रूप उपदेश है।

महानुभावो ! कषायों की प्रवलता से शरीर दुर्वल हो जाता है, तथा अनेक दुःख और खेद देखना पडते हैं, एवं दूसरों के अधिकार छीन लेने का पाप शिर पर लेना पड़ता है, और अपमान निर्लज्जता, वध, हत्या, निष्ठुरता, वैर, विरोध आदि दोषों का उद्भव होता है। जिससे मनमें एक प्रकार की वेदना वनी रहती है, और अध्यात्मज्ञान तो नष्ट भ्रष्ट ही हो जाता है। इससे बुद्धिमानों को उचित है कि–नित्यानन्द और अक्षय स्थान को प्राप्त करने के लिये ज्ञान दीपक से कषायरूप अंधकार को दूर करें, निचभाव और दुर्गुणों को छोडकर उत्तम भाव और सद्गुण अपने हृदय मे स्थापन करें, स्वार्थ को त्याग करके परोपकार करने में सदा उद्यत रहें और कषायों का जय करके सदाऽऽनन्दी शान्तगुण में लीन हों,

क्योंकि नरक और तिर्यग्गति का रोधक और सर्व दुःखविनाशक शान्ति महागुण ही है, इसके प्रभाव से अनेक अपरिमित सुख लीला प्राप्त होती हैं ! और मनुष्य संसार में परिपूर्ण योग्यता प्राप्त कर सब का पूज्य बन जाता है।

शान्तस्वभाव से 'प्रसन्नचन्द्र' राजर्षी अष्टकर्म खपा कर मोक्षसुख को प्राप्त हुए। 'दमसार' मुनि इसी शान्तभावना के वल से केवलज्ञान के अधिकारी वने हैं, और शान्तस्वभाव से ही 'अच्चंकारीभट्टा' इन्द्रादिकों की भी प्रशंसनीय हुई और स्वर्गसुख-विलासिनी बनी है। शान्तरस में लवलीन होकर 'चण्डरुद्राचार्य' अनेक भवसंचित पापकर्मों का क्षय कर केवलश्री और मुक्तिरमणी के स्वामी वने हैं।

क्षमा, सद्विचार, सदाचार आदि के सेवन करने से कषायाग्नि शान्त होती है; और परानिन्दा, ईर्षा, कुत्सित व्यवहार, ममत्व, अपनी प्रशंसा व दूसरों का अपमान, परस्त्रीगमन, परधनहरण और वाचालता आदि दोषों के आचरण करने से कषायाग्नि बढ़ती है। इसलिये बुद्धिमान पुरुषों को परम शान्तगुण धारण कर कषायाग्नि को उपशान्त करने में ही सदा प्रयत्नशील बनना और परमात्मा वीर प्रभु के

संदुपदेशों को आचरण कर सद्गुण संग्रहीत करना चाहिये।

संसार में गुरुत्व की चाहना हो तो परदोषों
का देखना सर्वथा छोडदो-

जइ इच्छह गुरुअत्तं, तिहुअणमज्झम्मि अप्पणोनियमा।
ता सव्वपयत्तेण, परदोसविवज्जणं कुणह ॥ १२ ॥

" यदीच्छथ गुरुकत्व. त्रिभुवनमध्ये आत्मनो नियमात् ।
तर्हि सर्वप्रयत्नेन, परदोषविवर्जन कुरुथ ॥ १२ ॥ "

शब्दार्थ-(जइ) जो तुम लोग (तिहुअण-मज्झम्मि) तीनों भुवन के मध्य मे (अप्पणो) अपना (गुरुअत्तं) वडप्पन (इच्छह) चाहते हो (ता) तो (नियमा) निश्चय से (सव्वपयत्तेणं) सर्व प्रयत्न से (परदोसविवज्जणं) परदोषों का वर्जन (कुणह) करो।

भावार्थ-भव्यो ! यदि तुम्हे संसार में वड़प्पन की इच्छा हो और सव में अग्रगण्य वनने की इच्छा हो तो दूसरो के दोष निकालना छोड दो, तो सव में तुम्ही को मुख्यपद प्राप्त होगा, और सद्गुणी वनोगे।

विवेचन-हर एक महानुभावों को यह इच्छा अवश्य उठती रहती है कि-हमारा महत्व वढे, हमारा स्वामित्व वढे, हमारा संमान (सत्कार) होता

रहें और सर्वत्र हमारी यशःकीर्ति फैलती रहे। इसी आशा से संसार में सब कोई दुःसाध्य कार्यों को भी अनेक दुःख सह करके पार लगा कर उच्चतम उपाधि को संपादन करते हैं। चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, सबकी प्रबल इच्छा वडप्पनरूपी जंजीर से जकड़ी हुई रहती है। वहुत से मनुष्य तो उसी इच्छा का सदुपयोग कर शुभ फल उपार्जन करते हैं, और बहुत से उसका दुरुपयोग कर अशुभ फल प्राप्त करते हैं। कोई कोई तो सब से ऊँची सीढ़ी पर चढ़ कर भी उस महोत्तम इच्छारूप बल का, मद, मात्सर्य और गच्छममत्व आदि दोषों में निमग्न हो दुरुपयोग कर शुभ फल के स्थान में अशुभ फल संग्रह करते हैं। क्यों कि—अज्ञानदशा नियम से कार्योत्साह और शुभ इच्छारूप बल को समूल उच्छेदन कर डालती है, और वैर विरोध बढ़ा कर महा उपद्रव खड़ा कर देती है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आदि अज्ञान दशा से ही प्राणी-मात्र इस दुःखमय संसारचक्र में पड़कर अनेक वार गोता खा चुके हैं और चौरासी लाख योनि में विवश होकर जन्म ले दुःख भोग चूके हैं। अज्ञानदशा से दुराचार की वृद्धि, असत्यमार्गों का पोषन, मात्स-

यदि दुर्गुणों की उत्पत्ति, धार्मिक रहस्य समझने का अन्तराय और कुबुद्धि पैदा होती है। मिथ्याभिमान से अपनी प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करना, धार्मिक और जातिविरोध बढ़ाना, भगवान के वचनों से विरुद्ध भाषण करना, गुणिजनों के साथ मात्सर्य रखना, साधुजनों का अपमान करना और असत्पक्षों का आचरण करना, यह अज्ञानदशा की ही लीला है।

अज्ञान और ज्ञान—

अज्ञानी मनुष्य को हितकारक और अहितकारक मार्ग का ज्ञान नहीं होता और उसे जितनी उत्तम शिक्षाएँ दी जावें वे सब अहितकारक मालूम होती हैं। विद्वानों का कथन है कि—अन्धकार और मूर्खता ये दोनों बराबर हैं। क्योंकि—मूर्खता में निमग्न मनुष्य स्थूल पदार्थों को भी समझने में असमर्थ होता है, इसी तरह अन्धकारस्थित मनुष्य समीपवर्त्ती वस्तुओं को भी नहीं देख सकता। यहाँ तक कि अपने अवयवों को भी यथार्थरूप से नहीं देखता। इसी कारण से अन्धकार और मूर्खता (अज्ञान) इन दोनों का परस्पर तुलना में प्राय. घनिष्ट सम्बन्ध मालूम पड़ता है। जैसे—भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस, सर्प आदि भयानक प्राणियों का प्रकाश में

अल्प भय भी उत्पन्न नहीं होता, परन्तु अन्धकार में उनका देखना तो अलग रहा, किन्तु स्मरण भी महा भयङ्कर मालूम पड़ता है, इसीप्रकार अज्ञानियों को कषाय, मात्सर्य, असत् श्रद्धा, आदि पिशाचों का भय हमेशां बना रहता है; क्योंकि अज्ञानियों का चित्त सत् असत्, धर्म, अधर्म आदि पदार्थों के विचार में दिग्मूढ बना रहता है, और जगह जगह अनेक कष्ट उठाने पर भी सुख का अनुभव नहीं कर सकता। कास्त-कार (किरसान) लोग अज्ञान दशा से वित्तोपार्जन करने के लिये खेती बाडी करके अनेक अनर्थ जन्य पापकर्म बाँधते हैं, रातादिन परिश्रम उठाया करते हैं, ग्रीष्मकाल का घाम और शीतकाल की ठंडी भी नहीं गिनते परन्तु सिवाय खर्च निकालने के दूसरा कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर सकते। और साहू-कार लोग किंचित् भी परिश्रम न उठा कर गादी तकिया लगा कर दुकान पर बैठे बैठे ही हजारों रुपयें कमा लेते हैं, और उसको दान, पुण्य, परोप-कार आदि में व्यय कर मनुष्य जन्म को सफल करते हैं। इन दोनों में केवल ज्ञान और अज्ञान का ही भेद है, अज्ञानियों की जगह जगह पर दुर्दशा और उपहास तथा तिरस्कार होता है।

इसलिये गुण और दुर्गण को पहचानने के निमित्त सद्ज्ञान प्राप्त करने की पूरी आवश्यकता है, क्यों कि ज्ञान के विना साराऽसार की परीक्षा नहीं हो सकती। कर्तव्य क्या है ?, अकर्तव्य क्या है ?, सत्य क्या है ?, असत्य क्या है ?, जीव क्या है ?, कर्म क्या है ?, इत्यादि वातो का निर्णय ज्ञान के विना नहीं हो सकता, और स्वधर्म तथा परधर्म का स्वरूप भी मालूम नही हो सकता, अतः ज्ञान-संपादन अवश्य करना चाहिये। लिखा भी है कि–

भवविटपिसमूलोन्मूलने मत्तदन्ती,
जडिमतिमिरनाशे पद्मिनीप्राणनाथः।
नयनमपरमेतद् विश्वतत्त्वप्रकाशे,
करणहरिणबन्धे वागुरा ज्ञानमेव ॥ १ ॥

भावार्थ—भवरूप वृक्ष को समूल उखाड़ने मे मदोन्मत्त हस्तीसमान, मूर्खतारूप अन्धकार को नाश करने मे सूर्य के सदृश, समस्त जगत के तत्त्वों को प्रकाश करने मे तीसरे नेत्र के तुल्य, और इन्द्रियरूप हरिणों को वश करने मे पाश–जाल की तुलना रखनेवाला एक ज्ञान ही है।

अज्ञानी, परापवाद, मद, मात्सर्यादि दोपो में पड कर अधमता को प्राप्त करता है, और ज्ञानी

सद्मार्ग का उपदेश देकर और राग द्वेषादि दोषों को हटा कर उत्तमता प्राप्त करता है। सांसारिक और धार्मिक योजनाओं में विद्वान् पुरुष जितना महत्व और यश प्राप्त करता है उतना मूर्ख हजारों रुपया खर्च करके भी प्राप्त नहीं कर सकता। इसी से महर्षियों ने सद्ज्ञान को प्राप्त करने की परमावश्यकता बतलायी है।

ज्ञान विना जीवादि पदार्थों का स्वरूप सामान्य तथा विशेष रूप से नहीं जाना जा सकता, और जीवादि स्वरूप जाने विना दयाधर्म का पालन भले प्रकार नहीं हो सकता। 'श्रीदशवैकालिसूत्र' में श्री शय्यंभवसूरिजी महाराज ने लिखा है कि—'पढमं नाणं तओ दया' प्रथम जीवादि पदार्थों का ज्ञान करो, क्योंकि परिपूर्ण ज्ञान हुए बिना यथार्थ दयादानादि धर्म (व्यवहार) नहीं सध सकता। जितना ज्ञान होगा उतनी ही शुद्ध धर्म में प्रवृत्ति अधिक होगी। ज्ञान के विना उपदेशादि का देना और तपस्यादि करना सार्थक नहीं है। सूत्रकारों ने तो यहाँ तक लिखा है कि—वस्तुतत्त्व को जाने विना और वचनविभक्तिकुशल हुए विना जितना धर्मोपदेश देना है वह असत्य मिश्रित होने से भवभ्रमण का

ही हेतु है, इससे ज्ञानसहित धर्मोपदेशादि देना और क्रियानुष्ठान करना सफल और अनन्त सुखदायक है।

बहुत से अज्ञ जीव क्रियाडम्बर पर ही रंजित हो समजते हैं कि बस दया पालना, तपस्या वगैरह करना, यही मोक्षमार्ग है। परन्तु शान्तस्वभाव से विचार करना चाहिये कि अकेली क्रिया उसका यथार्थ स्वरूप जाने विना उचित फलदायक नहीं हो सकती। जैसे—शिल्प कला को जाने विना गृह, मन्दिर, आदि बनाना, चित्रकला को सीखे विना चित्रादि का बनाना और व्यापारादिभावनिपुण हुए विना व्यापार वगैरह का करना शोभाजनक और फलदायक नहीं होता। जो जिस कला में निपुणता रखता होगा वही उसका फल प्राप्त कर सकता है, दूसरा नहीं। उसी तरह धार्मिक क्रियाओं मे शोभा और उत्तम फल को वही पा सकता है जो उन क्रियाओं के यथार्थ उद्देश्यों को समझता है। इससे सभी अनुष्ठान ज्ञानपूर्वक ही महाफल देनेवाले हैं। बहुश्रुत हरिभद्रसूरिजी महाराज ने लिखा है कि—

क्रियाहीनस्य यज्ज्ञानं, ज्ञानहीनस्य या क्रिया।
अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥ १ ॥

भावार्थ—क्रियाहीन जो ज्ञान, और ज्ञानहीन जो क्रिया, इन दोनों के परस्पर सूर्य और खद्योत (पतंगिया) जितना अन्तर जानना चाहिये। ज्ञान तो सूर्य के समान है, और क्रिया खद्योत के समान है। क्रिया देश से आराधक, और ज्ञान सर्वाराधक है। ज्ञानरहित क्रिया करनेवाला देश से आराधक है, ऐसा 'भगवतिसूत्र' में कहा है।

ज्ञानसहित क्रिया और क्रियासंयुत ज्ञान यही आत्मशुद्धि होने का और तत्त्वज्ञ वनने का मुख्य कारण है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया के सेवन से अन्तरङ्ग शत्रुओं का अभाव होकर महोत्तम पद प्राप्त होता है और महोत्तम शान्तगुण प्रगट हो कर सर्वमतावलम्वियों के ऊपर समभाव होता है। ज्ञान संपादन और क्रिया करने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि—अपनी आत्मा कषाय शत्रुओं से मुक्त हो सव के साथ मैत्रीभाव रक्खे, किन्तु किसी के दोषों पर न ताके।

क्रिया का, या व्याख्यान आदि का वाह्याडम्वर दिखाने मात्र से ही सत्तत्त्व की प्राप्ती नहीं हो सकती, जवतक उपशम भाव नहीं हुआ तव तक सव ढोंग-मात्र है और जहाँ ढोंग है वहाँ मुक्तिमार्ग नहीं है।

अत एव प्रत्येक धर्मानुष्ठानों को सफल करने के लिये प्रथम ज्ञान संपादन तदनन्तर क्रिया (शान्त-गुण) में लवलीन होना चाहिये। यहाँ पर ज्ञान और अज्ञान का इतना स्वरूप दिखाने का हेतु यही है कि लोग अज्ञानजन्य दोषों को ज्ञान से समझ कर, परदोष प्रदर्शन और निन्दा करने का लाभाऽलाभ जान कर, महत्व प्राप्त करने के लिये अनीतिमय दोषों का सर्वथा त्याग करें और जिनेन्द्र भगवान् की उत्तम शिक्षाओं का आचरण करें।

वर्त्तमान जैन जाति में अवनति दशा होने का मुख्य कारण यही है कि उसमे सद्ज्ञान और उत्तम शिक्षण का अभाव है, और कहीं किसी में कुछ ज्ञान पाया भी जाता है तो वह मात्सर्य से अच्छादित होने से उसका प्रभाव नही वढ़ता। क्योंकि जैन शास्त्रानुसार सद्ज्ञान वही है जिस से वैर विरोध का सर्वथा नाश हो कर मैत्री भावना दिन दूनी वढती जाय। यदि ज्ञान प्राप्त होने पर भी असभ्य आदतें न मिटीं तो वह ज्ञान नहीं किन्तु अज्ञान ही है। उत्तम ज्ञान के उदय से उत्तम उत्तम सद्गुण प्रगट होते हैं। कहा भी है कि–

ज्ञान उदय जिनके घट अन्दर,
ज्योति जगी मति होत न मैली।
बाहिर दृष्टि मिटी तिन के हिय,
आतमध्यान कला विधि फैली ॥
जे जड़ चेतन भिन्न लखे,
सुविवेक लिये परखे गुण थैली।
ते जग में परमारथ जानि,
गहे रुचि मानि अध्यातम शैली ॥१॥

भावार्थ–जिनके हृदय में असली ज्ञान का उदय होता है उनके हृदयभवन में परापवाद, परदोषनिरीक्षण आदि दोषों से परिवेष्टित–मलिन मति का नाश हो कर सुबुद्धि और दिव्यज्ञानज्योति का प्रकाश होता है, बाह्यदृष्टि मिट कर सर्व दोषविनाशिका–अध्यात्मकला की विधि विस्तृत होती है, ज्ञानोदय से मनुष्य जड़ और चेतन की भिन्नता दिखाने वाले सद्विवेक को प्राप्त कर ज्ञान दर्शन चारित्रादि सद्गुणों की थैली परीक्षा पूर्वक ग्रहण करते हैं और संसार में परमार्थ (तत्त्व) वस्तु को जान कर शुद्ध रुचि से अध्यात्म शैली को प्राप्त करते हैं। इस लिये महानुभावो !

" परदोसं निराकिच्चा, न विरुज्झेज्ज केण वि ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ॥ "

भावार्थ—मन वचन और काया से परदोषों को अलग कर किसीके साथ वैर विरोध न करो। क्योंकि—परदोप बोलने और विरोधभाव रखने से अन्त में दुर्गति का भाजन वनना पडता है ।

अत एव मन से किसी की बुराई न करो, वचन से किसी की निन्दा, या दोपारोप न करो और काया से सर्वत्र शान्तिभाव फैलाने की कोशीस करो, परन्तु जिससे कपायाग्नि वढ़े, वैसी प्रवृत्ति न करो । परदोप निकालता हुआ कोई भी उच्चदशा को प्राप्त नहीं हुआ किन्तु अधमदशा के पात्र तो करोड़ों हुए हैं । जो सव के साथ मैत्री भाव रखते हैं, यथाशक्ति परोपकार करते हैं और स्वप्न में भी परदोषों पर दृष्टि नहीं डालते वे सव के पूज्य हो कर महोत्तम पद विलासी वनते हैं ।

ग्रन्थकार पुरुषों के भेद दिखा कर उनकी निन्दा करने का निषेध करते हैं—

चउहा पसंसिणिज्जा,
पुरिसा सव्वुत्तमुत्तमा लोए ।

उत्तम-उत्तम उत्तम,
माज्झिमभावा य सव्वेसिं ॥ १३ ॥
जे अहम अहम-अहमा,
गुरुकम्मा धम्मवज्जिया पुरिसा
तेऽवि य न निंदणिज्जा,
किंतु तेसु दया कायव्वा ॥ १४ ॥

चतुर्द्धा प्रशंसनीयाः, पुरुषाः सर्वोत्तमोत्तमा लोके ।
उत्तमोत्तमा उत्तमा, मध्यमभावाश्च सर्वेषाम् ॥
ये अधमा अधमाधमा, गुरुकर्माणो धर्मवर्जिताः पुरुषाः ॥
तेऽपि च न निन्दनीयाः, किन्तु दया तेषु कर्त्तव्या ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—(लोए) संसार में (सव्वुत्तमुत्तमा) सर्वोत्तमोत्तम १, (उत्तम-उत्तम) उत्तमोत्तम २, (उत्तम) उत्तम ३, (य) और (माज्झिमभावा) मध्यमभाव ४, (सव्वेसिं) सब पुरुषों के (चउहा) चार प्रकार होते हैं। (पुरिसा) चारों भेद वाले पुरुष (पसंसणिज्जा) प्रशंसा करने योग्य हैं। (य) और (जे) जो (अहम) अधम १, और (अहम-अहमा) अधमाऽधम २, (गुरुकम्मा) बहुल कर्मी, (धम्मवज्जिया) धर्ममार्गसे रहित ये दो प्रकार के (पुरिसा) पुरुष हैं, (तेऽवि) वे भी (निंदणिज्जा) निन्दा करने योग्य (न) नहीं हैं (किंतु) तो क्या?,

(तेसु) उन पर भी (दया) दयालु परिणाम (कायव्वा) रखना चाहिये।

भावार्थ--प्रथम के चार भेद वालों की प्रशंसा करना, और दूसरे दो भेदवालो भी प्रशंसा न करते वने तो उनकी निन्दा तो अवश्य छोड देना चाहिये।

विवेचन—संसार में अपने शुभाऽशुभ कर्म के संयोग से प्राणीमात्र को उत्तम, मध्यम और अधम दशा प्राप्त होती है और उसी के अनुसार उनकी मनःपरिणति शुद्धाऽशुद्ध हुआ करती है। जो लोग परनिन्दा, परदोपारोप, परसमृद्धि मे आमर्ष, कपट, निर्दयपरिणाम और अभिमान आदि दोषो को आचरण करते है, उनको एक एक योनी की अपेक्षा अनेक वार अधम दशा का अनुभव करना पड़ता है। जो महानुभाव दोषों को सर्वथा छोड़ कर सरलता, निष्कपट, दया, दाक्षिण्यता आदि सद्गुणो का अवलम्बन करते है वे यथायोग्य उत्तम, मध्यम अवस्था को पाते है। यह बात तो निश्चय पूर्वक कही जा सकती है कि–जो जैसा स्वभाव रखेगा वह उसीके अनुसार योग्यता का पात्र वनेगा और सांसारिक तथा धार्मिक कार्यों में

अग्रगण्य समझा जायगा। महर्षियोंने जन सुधार के निमित्त जो जो आज्ञाएँ दी हैं, और उत्तम उत्तम उपाय बतलाये हैं उनको श्रद्धा पूर्वक पालन करने से सद्‌गुणों की प्राप्ती होती है और उभय लोक में अखण्ड यशःप्रताप फैलता है।

छ प्रकार के पुरुष—

ग्रन्कार महर्षियोंने सर्वोत्तमोत्तम १, उत्तमोत्तम २, उत्तम ३, और मध्यम ४, इन चार भेद वालों की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने के लिये उपदेश दिया है। क्योंकि ये चारों भेदवाले पुरुष धर्मात्मा और धर्मानुरागी होते हैं, इससे इनकी प्रशंसा करने से मनुष्य सद्‌गुणी बनता है। दुनिया में 'सर्वोत्तमोत्तम' पुरुषों में सब दोषों से रहित और अनेक प्रभावशाली अतिशयान्वित, श्रीतीर्थङ्कर भगवान तथा 'उत्तमोत्तम' कोटी में सामान्य केवली भगवन्त दाखिल हैं, 'उत्तम' कोटी में पंचमहाव्रतधारी, अखंड ब्रह्मचर्य व्रत पालक, मुनि महाराज और देशविरतिश्रावक महानुभाव दाखिल हो सकते हैं; और 'मध्यम' कोटी में सम्यग्‌दृष्टि, और मार्गानुसारी सत्पुरुष, समझे जा सकते हैं। इन महानुभावों को सद्‌गुणों के प्रभाव से ही उत्त-

मता प्राप्त हुई है। इसलिये इन्हों की प्रशंसा करना, वास्तव मे अपनी ही उन्नत्ति के निमित्त है। अत एव सत्पुरुषों की निरन्तर प्रशंसा करते रहना चाहिये; क्योंकि उत्तमोत्तमगुण प्राप्त करने का यही मुख्य साधन है।

जो ' अधम ' तथा ' अधमाधम ' जीव हैं, वे गुरुकर्मी होने से प्रशंसा के लायक नहीं है; क्योंकि उनमें जितने दोष हैं, वे प्रायः निन्दा करने योग्य ही हैं। तथापि—

' श्रीजिनहर्षगणिजी ' महाराज फरमाते है कि–' तेऽवि य न निंदणिज्जा, किन्तु दया तेसु कायव्वा ' अर्थात्–अधम और अधमाधम मनुष्य भी निन्दनीय नहीं है। क्योकि संसार में मनुष्य पूर्वोपार्जित पापकर्म के उदय से पापकर्म करने में ही लगे रहते है, और नरकप्रायोग्य अशुभयोगों में विलास किया करते है। इसलिये उनकी निन्दा नहीं करना चाहिये, किन्तु उन पर भी दयालु स्वभाव रखना चाहिये।

अधर्मी मनुष्यों को देखकर धर्मात्माओं को यह विचार करना चाहिये कि–ये जीव विचारे भारी कर्मा होने से धर्मरहित हुए हैं, यदि किसी तरह

ये धर्मानुरागी बनें तो अच्छा है। ऐसी शुभ भावना रख, मधुर वचनों से समझाते रहना चाहिये; परन्तु पापिष्ट, दुष्ट, नीच, आदि शब्दों से व्यवहार करना ठीक नहीं। मधुर वचनों से तो किसी न किसी समय ये लोग धर्म के सन्मुख हो सकेंगे, किन्तु निन्दा करने से कभी नहीं समझ सकते। पूर्वाचार्यों ने मधुर वचनों से ही अनेक महानुभावों को धर्मानुरागी बनाये हैं। जो लोग वचनों में मधुरता नहीं रखते, उनके वचन सर्व मान्य नहीं हो सकते। श्री जिनेश्वरों की वाणी दयालुस्वभाव से ही सर्वमान्य मानी जाती है; क्योंकि–जिनवाणी अत्यन्त मधुरवचन संपन्न होती है उनको प्रीति पूर्वक हितकारक समझ कर, अधमाधम श्रेणी के मनुष्य भी आचरण (मान्य) करते हैं। अतएव बुद्धिमानों को दयालुस्वभाव रख, मधुरवचनों से ही अधमजीवों को समझाते रहना चाहिये।

'षट्पुरुषचरित्र' में श्री क्षेमङ्करगणिजीने पुरुष–धर्म सब में समान रहने पर भी पूर्वभवोपार्जित शुभाऽशुभ कर्म के परिणाम से और चार पुरुषार्थों को साधन करने के भेद से मनुष्यों के छः विभाग किये हैं। वे इस प्रकार हैं कि–अधमाधम १, अधम

२, विमध्यम ३, मध्यम ४, उत्तम ५ और उत्तमोत्तम ६ ।

१—जो लोग धर्मकर्म से रहित हैं, जिन्हें परलोक संबंधी दुर्गतियों का भय नहीं हैं, निरन्तर क्रूरकर्म और पापों का आचरण किया करते है, अधर्मकार्यों में आनन्द मानते हैं, लोगों को कनेक उद्वेग उपजाया करते है, देव गुरु, और धर्म की निन्दा किया करते हैं, दूसरे मनुष्यों को भी नित्य पापोपदेश दिया करते हैं, जिनके हृदय में दया-धर्म का अंकूर नहीं ऊगता अर्थात्-जो महा निर्दय परिणामी होते है, अगर किसी तरह कुछ द्रव्य प्राप्त भी हुवा तो उसे मदिरा, मांसभक्षण, परस्त्रीगमन आदि अनेक कुकार्य करने मे खर्च करते है, वे लोग 'अधमाधम' हैं ।

२–जो महानुभाव परलोक से पराङ्मुख हो इन्द्रियों के विपयसुख के अभिलापी वने रहते है, अर्थ और काम, इन दो पुरुपार्थों को ही उपार्जन करने में कटिवद्ध हैं, ससारवृद्धि का जिनको कुछ भी भय नहीं है, जन्म मरण संवन्धि क्लेशों का जिन्हें ज्ञान नहीं है, जो दूसरों के दुःख को नहीं जानते, जो कर्मों के अशुभ फलों का दुःख

देखते हुए भी सुख मानते हैं, जो पशुओं की तरह यथारुचि खाते, पीते, बोलते, और कुकर्म करते हैं, लोक निन्दा का भी जिनको डर नहीं है, जो धार्मिक जनों की मश्करी (उपहास्य) करते हैं, मोक्षमार्ग की निन्दा करते हैं, धर्मशास्त्रों की अवहेलना (अनादर) करते हैं, और कुगुरु कुदेव, कुधर्म की कथाओं के ऊपर श्रद्धा रखते हैं।

जो लोग सदाचारियों कीं निन्दा हास्य कर, कहते हैं कि–परलोक किसने देखा ?, कौन वहाँ से आया ?, किसने जीव, अजीव आदि पदार्थ देखे ?, किसने पुन्य पाप का फल भुगता ?, स्वर्ग नरक मोक्ष कहाँ है ?। केशलुंचनादि, सब कार्य क्लेशरूप हैं, व्रतादि ग्रहण करना भोगों से वंचित रहना है, शास्त्रों का अभ्यास केवल कण्ठशोष है, धर्मोपदेश देना विचारे मूर्ख लोगों को ठगना है, देव गुरु साधर्मिक भक्ति में द्रव्य लगाना व्यर्थ है। दुनिया के अन्दर अर्थ और काम को छोड कर दूसरा कोई पुरुषार्थ नहीं है। क्योंकि–सब जगह अर्थवान् ही प्रशंसनीय है, लिखा भी है कि–

मुत्तूण अत्थकामो, नो अन्नो कोई अत्थि परमत्थो।
जस्स कए चइऊणं, दिट्ठसुहमदिट्ठ अहिलासो ॥१॥

भावार्थ–अर्थ और काम को छोडके संसार में कोई ऐसा परमार्थ नहीं है कि जिसके लिये मिले हुए सुखों को छोडकर अदृष्ट सुखो की आशा की जाय। क्योंकि–जाति, विद्या, रूप, कलासमूह, गुण और विज्ञान; ये सव अर्थ (धन) से ही शोभा को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार विषयवश हो अधमवुद्धिलोग स्वयं परमार्थमार्ग से पतित होते हैं, और दूसरों को भी दुर्गति के भाजन वनाते हे। इससे ये लोग 'अधम' हे।

जैसे–मूर्खमति मृग व्याधगीत को सुखरुप मानता है, पतंग-सहर्ष हो दीपशिखा में पड़ता है। इसी तरह अधम मनुष्य दुःखरूप अर्थ और काम की वासना में सुख मानते हुए नरकादि स्थानों के पात्र वनते हे। अर्थात् अधम लोगों के सव व्यापार स्वात्मविनाश के लिये होते हैं। जो महानुभाव सदुपदेश और आगमप्रमाण मिलने पर भी अपने नास्तिकपन को नहीं छोडते वेभी अधमपुरुषों की श्रेणी में ही समावेश किये जाते हे।

३–जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की आराधना सांसारिक सुखों के वास्ते करते हे, मोक्ष की निन्दा

और प्रशंसा नहीं करते है, जैसे 'नालिकेरद्वीप' निवासी मनुष्य, धान्य के ऊपर रुचि और अरुचि नहीं लाते किन्तु मध्यस्थभाव रखते हैं, उसी प्रकार जो मोक्ष के विषय में अभिलाष और अनभिलाष नहीं रखते हुए केवल इस लोक में ऋद्धि संपन्न मनुष्यों को देख कर धर्मसाधन में प्रवृत्त होते हैं और मन में चाहते हैं कि-हमको रूप, सौभाग्य, विभव, विलास, पुत्र, पौत्रादि परिवार, तथा समस्त पृथ्वीमण्डल का राज्य, आदि दान शील तप और भावरूप धर्मकरणी के प्रभाव से जन्मान्तर (दुसरे जन्म) में मिले। अर्थात् सुखसमृद्धि के लिये ही जो तीर्थसेवा, गुरुभक्ति, परोपकार और दुष्कर क्रिया करते हैं और लोकविरुद्ध कार्यों का त्याग कर धर्मक्रिया में प्रवृत्त होते हैं, तथा पाप से डरते हैं, और सुगति तथा कुगति को मानते हैं; वे 'विमध्यम' हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र; ये चार वर्ण पूर्वोक्त कार्यों के करने से विमध्यम पुरुषों में गिने जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी, चक्रवर्त्ती प्रमुखों के विभव और विषयादिसुखभोग के अभिलाषी हो निदान करते हैं वेभी इसी भेद में गिन जाते हैं। ये लोग

धर्मार्थी होने पर भी यथार्थवक्ता गुरु के विना धर्मस्वरूप को नहीं पा सकते ।

४–जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चार पुरुपार्थो को मानते हैं, परन्तु मोक्ष को परमार्थ और परमतत्त्व समझते हैं। तथापि हीनसत्त्व और कालानुसार पुत्र कलत्रादि के मोह ममत्त्व को नहीं छोड सकने के कारण धर्म, अर्थ, तथा काम, इन तीनों ही वर्ग की आराधना यथासमय परस्पर वाधारहित करते रहते हैं। संसारस्वरूप और विपयादि भोगों को किंपाकफल की तरह दुःखप्रद समझते हुए भी 'महापुरुपसेवितां प्रव्रज्यामध्यवसितु न शक्नुवन्ति' महोत्तम पुरुपो के द्वारा सेवित पारमेश्वरी दीक्षा को स्वीकार करने के लिये समर्थ नहीं हो सकते। परन्तु जैनशासन के प्रभावक मुनिजनों के भक्त, साधु धर्म के पोपक वनकर दान शील तप भाव और परोपकारादि सद्गुणो से अलंकृत, सम्यक्त्व मूल–वारह व्रतो को निरतिचार पालन करते है, वे पुरुप 'मध्यम' है। ये लोग जिनेन्द्रधर्म को निरागीभाव से सेवन करते है और सव का हित चाहते है, किन्तु किसीकी भी हानि नहीं चाहते। इससे इस लोक में अनेक

लोगों के प्रशंसनीय हो परलोक में उत्तम देव पद और मनुष्य पद प्राप्त करते हैं।

५—जो चार पुरुषार्थों में से केवल मोक्ष ही को परमार्थस्वरूप समझते हैं और मोक्षमार्ग की आराधना करने में ही कटिबद्ध रहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, मत्सर, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा आदि दुर्गुणों को छोड़कर पारमार्थिक सद्गुणों में चित्त लगाकर, धन, धान्य, माल, खजाना, कुटुंब—परिवार को तुच्छ समझकर, भोगतृष्णामय दुष्ट इन्द्रियों को सर्वथा रोककर, तथा वैराग्यवासना से वासितान्तःकरण होकर परमपुरुषसेवित और सब दुःखों की निर्जरा की हेतुभूत—पारमेश्वरी महोत्तम निर्दोष दीक्षा का सेवन करते हैं, अर्थात् चारित्रधर्म को स्वीकार करते हैं। शत्रु, मित्र, निन्दक, पूजक, मणि, कांचन, सज्जन, दुर्जन, मान, अपमान, गम्य, अगम्य आदि सब के ऊपर समानभाव रखते हैं, और सब जीवों को हितकारक उपदेश देते हैं। गृहस्थों के परिचय से विरक्त, आरंभ से रहित, सत्योपदेशक, अस्तेयी, ब्रह्मचारी और निष्परिग्रही होते हैं, वे 'उत्तमपुरुष' कहे जाते हैं। इस भेद

में निर्दोष चारित्र को पालनेवाले मुनिराज ही गिने जाते है।

जो लोग गृहस्थाश्रम छोड़ने पर भी सांसारिक विषयो के अभिलाषी, सब वस्तुओं के भक्षक, धनधान्यादि परिग्रह से युक्त, अब्रह्मचारी, मिथ्या उपदेशक, गृहस्थपरिचर्या (सेवा) कारक, रंगीनवस्त्र धारण कर और बुगला भगत बन कर लोगों को ठगने वाले, आधाकर्मी आहारादि लेने वाले और वैर विरोध, कलह, मात्सर्य आदि दुर्गुणों में क्रीड़ा करने वाले है, वे उत्तमों की पङ्क्ति में क्या? मध्यमो की पङ्क्ति में भी नही है, किन्तु उनको अधमों की पङ्क्ति में गिनना चाहिये। क्योंकि उत्तम पुरुषो की गिनती में तो वे ही सत्पुरुष आ सक्ते है. जो कि पूर्वोक्त अधम कार्यों से रहित हों। अर्थात्–जो अमोही, ज्ञानी, ध्यानी, शान्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, विरागी, निस्पृही, शास्त्रोक्त साधुक्रिया में तत्पर विद्यावान्, विवेकसंपन्न, मध्यस्थ, तत्त्वदृष्टी, भवोद्विग्न, अमत्सरी, सर्व जीवहितचिन्तक, सद्गुणानुरागी, कलहोदीरणा रहित, और संयम की उत्तरोत्तर खप करने वाले, मुनि हों वे उत्तमपदालङ्कृत हैं। ये

उत्तम पुरुष स्वयं संसारसमुद्र से तरते हैं, और भव्यजीवों को निःस्वार्थवृत्ति से तारते हैं। जो स्वयं तरने के लिए समर्थ नहीं है, वह दूसरों को कैसे तार सकता है ?। अतएव उत्तमपुरुष ही स्वयं तिरने के लिए और दूसरों को तारने के लिये समर्थ हैं।

६-जो उत्तमपुरुषों के और तीनलोक के ध्येय, पूज्य, माननीय, वन्दनीय, स्तवनीय, ईश्वरपदवाच्य, सर्वथा राग द्वेष रहित, केवलज्ञान से लोकाऽलोक स्वभाव के प्रकाशक, प्रमाणयुक्त, स्याद्वादशैलीयुक्त-उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-इन तीनों पदों का ज्ञान गणधरों को देने वाले, निर्विकार. निर्बाध, परस्पर विरोधादि दोष रहित, शासननायक, शिवसुखदायक, परमकृपालु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न, कामधेनु और कामकुम्भ से भी अधिक दान देने वाले, धर्मचक्रवर्ति तीर्थंकर-तीर्थस्थापक सेवामात्र से मोक्ष के फल देने वाले होते हैं, वे 'उत्तमोत्तम' पद विभूषित हैं।

जिनका संसार में जन्म होने से लोगों के हृदय में सद्बुद्धि पैदा होती है, सब का दयालुस्वभाव होता है, वैर, विरोध, ईर्ष्या, लूट-खोस; आदि दुर्गुण मिटते हैं, अनुकूल वर्षा होती है, दुर्भिक्ष का नाश

और जल, फूल, फल, आदि में मधुरता वढती है, त्रिलोकव्यापी उद्योत होता है, लोगो मे धार्मिक भावना वढ़ती हे, स्व परिवारसहित इन्द्रो का गमनाऽऽगमन होता हे। वहुत कहॉ तक कहा जाय जिनके समान रूप, सौभाग्य, लावण्य, भाग्योदय, गाम्भीर्य, धैर्य, दाक्षिण्य, सदाचार, गुणानुराग, गुणसमूह, निर्ममता, समताभाव, निर्दोपीपन, सहनशीलता, स्वामित्व, जितेन्द्रियत्व, अतिशय, निर्भयता, आदि उत्तमोत्तम सद्गुण दूसरे ससारी किसी जीव मे नही हो, वे सर्वज्ञ दयासागर जगज्जीव-हितैपी 'उत्तमोत्तम' पुरुप कहे जाते हैं।

महानुभाव ! इस प्रकार ग्रन्थान्तरो में पुरुषों के छ. विभाग किये गये हे। शास्त्रों मे योग्याऽयोग्य पुरुषों का वहुत स्वरूप दिखलाया गया है, यहॉ तो विलकुल संक्षेपस्वरूप लिखा हे। इस स्वरूप को अवलोकन और मनन कर यह विचार करना चाहिये कि पूर्वोक्त भेदों में से मैं किस पङ्क्ति में हू ?, मेरे में इनमें से कौन कौन लक्षण पाये जाते हे ?, ऐसा विचार करने पर यदि माल्रूम हो कि अव तक तो मे नीच-पङ्क्ति में ही हू तो उंची पङ्क्ति में जाने का प्रयत्न करना चाहिये, और यदि यह माल्रूम हो

कि मैं ऊँचे नम्बर की पङ्क्ति में हूं तो उत्तरोत्तर ऊंची पङ्क्ति में पहुंचने की अभिलाषा रखनी चाहिये और अपने से नीची पङ्क्ति में रहे हुए जो लोग हैं, उन पर दयालु स्वभाव रख, उन्हें सन्मार्ग में जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये।

जो लोग बालविवाह, वृद्धविवाह, कन्याविक्रय करते हैं, एक स्त्री पर अनभिलाषा रख, दूसरी स्त्री से विवाह कर सपत्नी संबन्ध जोड़ते हैं और अवाच्यपशुओं की तरह वेदरकारी रखते हैं, वे भी 'अधमाधम पुरुषों' में शामिल हैं। अतएव अधमाधम कार्यों को सर्वथा छोड़ देना चाहिये, क्योंकि अधम कार्यों से मनुष्य ऊंची दशा पर कभी नहीं चढ़ सकता।

आजकल प्रायः छोटे छोटे जन्तुओं की दया पालन की जाती है परन्तु पञ्चेन्द्रियजीव को आ जन्म दुःख में डालते हुए कुछ भी विचार नहीं किया जाता। यह एक प्रकार की अज्ञता ही समझना चाहिये।

अब श्रीमान् जिनहर्ष गणि विषयविकारों की न्यूनाधिक्य से पुरुषों के छे भेद दिखलाते हुए सर्वोत्तमोत्तम पुरुषों का वर्णन करते हैं—

पच्चंगुब्भडजुव्वणवंतीणं सुरहिसारदेहाणं ।
जुवईणं मज्झगओ, सव्वुत्तमरूववंतीणं ॥ १५ ॥

आजम्मबंभयारी, मणवयकाएहिं जो धरइ सील ।
सव्वुत्तमुत्तमो पुण, सो पुरिसो सव्वनमणिज्जो ॥१६॥

(प्रत्यङ्गोद्भटयौवनवतीना सुरभिसारदेहानाम् ।
युवतीना मध्यगतः, सर्वोत्तमरूपवतीनाम् ॥१५॥)

(आजन्मब्रह्मचारी, मनोवचः कायैर्यो धरति शीलम् ।
सर्वोत्तमोत्तमः पुनः, स पुरुषः सर्वनमनीयः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—(पच्चंगुब्भडजुव्वणवंतीणं) प्रति अंगो में प्रकट है यौवन जिनका, (सुरहिसारदे-हाणं) सुगन्धमय है शरीर जिनका, और (सव्वु-त्तमरूववंतीणं) सब से उत्तमरूपवाली (जुवईणं) युवतियो के (मज्झगओ) मध्य में रहा हुआ (जो) जो (मणवयकाएहिं) मन, वच और काया से (अजम्मबंभयारी) जन्मपर्यन्त ब्रह्मचारी रह (सीलं) शील को (धरइ) धारण करता है (सो) वह (पुरिसो) पुरुष (सव्वुत्तमुत्तमो) सर्वोत्तमोत्तम कहा जाता है (पुण) फिर वह (सव्वनमणिज्जो) सब लोगों के वन्दन करने योग्य होता है ।

भावार्थ—युवावस्था, सुगन्धमय शरीर और सौन्दर्यसपन्न स्त्रियों के वीच मे रह कर भी जो अख-

एड ब्रह्मचर्य धारण करता है वह पुरुष ' सर्वोत्तमोत्तम ' और सब का वन्दनीय होता है।

विवेचन—संसार में दान देना, परीषह सहना, तपस्या से शरीर को सुख देना, दया पालन करना, ध्यान आदि क्रियाओं का करना तो सुकर है परन्तु आजन्म ब्रह्मचर्य धारण करना अत्यन्त दुष्कर है। वड़े वड़े योद्धा पुरुष भी कामदेव के अगाड़ी कायर बन जाते हैं तो इतर मनुष्यों की कथा ही क्या है ?, क्योंकि कामदेव वडा भारी योद्धा है यह तपस्वियों के हृदय में भी खलवलाहट किये बिना नहीं रहता। अर्थात् जिसके हृदय में इसने प्रवेश किया उसका फिर संयम रहना कठिन है। इस से भगवन्तों ने उन्हीं को त्यागी कहा कि—

जे य कंते पिए भोए, लद्धेविपिट्ठिकुव्वइ ।
साहीणे चइए भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥

भावार्थ—जो पुरुष मनोहर, मनोऽनुकूल और स्वाधीन प्राप्त भोगों को शुभभावना से छोड़ देता है। अर्थात् जिनको जन्म भर में एक भी स्त्री नहीं मिलती, कदाचित् मिली तो मनोऽनुकूल नहीं, वे पुरुष दुःखी हो, बंधे हुए घोड़े की तरह ब्रह्मचर्य पालें तो वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं कहे जा सकते।

किन्तु जिनको भोगों की सब सामग्री तैयार है और अपनी इच्छा के अनुसार चलनेवाली स्त्रियॉ हैं उस अवस्था में किसी प्रकार विपयकीचड़ से उपलिप्त न होना वही वास्तविक त्यागी (ब्रह्मचारी) है। क्यो कि विरक्त मनुष्य संसार के भोगो को काले सर्प के फण के समान विषम जानकर, इन्द्रियों के विपयों को विपमिश्रित अन्न के समान और स्त्रियों के पुद्गलजन्य सुखों को तृण के समान असार जानकर, विपयाशक्ति को छोड़ करके मोक्ष को होता है।

अतएव किंपाकफल के समान आदि ही में सुखद और अन्त में दु खद जानकर मैथुन से विरक्त हो अखंड ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये। क्योंकि जलते हुए लोहस्तंभ का आलिंगन करना श्रेष्ट है किन्तु अनेक अनर्थों का कारणभूत स्त्रीजघन का सेवन करना उत्तम नहीं है। जो लोग स्त्रियों के संभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहते हैं वे घृत की आहुती से अग्नि को बुझाने की इच्छा करते हैं।

चारित्र का प्राण और मोक्ष का मुख्यहेतुभूत

ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले सत्पुरुष पूज्यों से भी संमानित होते हैं। अनेक क्लेशों और चुगलियों का घर 'नारद' केवल ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष अधिकारी बनता है। ब्रह्मचर्य से ही समस्त गुण उज्ज्वल हो सब के आदरणीय होते है। अन्यदर्शनों का भी कहना है कि एकदिन ब्रह्मचर्य पालने से जो फल प्राप्त होता है वह हजार यज्ञों से भी नहीं होता। जिनमें ब्रह्मचर्य है और जो हमेशा सत्यवाणी बोला करते हैं उनको गङ्गा भी ढूँढा करती हैं। कितने एक लोग गंगास्नान करने के लिये जाते हैं लेकिन गंगा उनसे अपने को पवित्र नहीं मानती, किन्तु वह पवित्र होने के लिये ब्रह्मचारी और सत्यवादियों का नित्य अन्वेषण किया करती है।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउम्मि परिमियप्पणो ॥१॥

भावार्थ—जीवित को अनिश्चित, ज्ञान दर्शन चारित्र को मोक्षमार्ग और आयु को परिमित जानकर विषयादि भोगों से विरक्त होना चाहिये। अर्थात् जीवित स्थिर नहीं है, रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है और आयु प्रमाणयुक्त है, ऐसा समझकर बुद्धिमानों को अखंड ब्रह्मचर्य धारण करना चाहिये।

मनुष्यों के हृदय को सद्गुणों की ओर आकर्षित करने के लिये शास्त्रकारों ने अनित्यभावना १, अशरणभावना २, भवस्वरूपभावना ३, एकत्वभावना ४, अन्यत्वभावना ५, अशौचभावना ६, आश्रवभावना ७, संवरभावना ८, निर्जराभावना ९, धर्मभावना १०, लोकस्वरूपभावना १२, और बोधिदुर्लभभावना १२, ये बारह भावनाएँ बतलाई है।

अतएव विवेकरूपी सुवन को सिंचन करने के लिये नदी के समान, प्रशम सुख को जीवित रखने के लिये संजीवनी औषधि के समान, संसाररूपी समुद्र को तरने के लिये बृहन्नौका के समान, कामदेवरूपी दवानल को शान्त करने के लिये मेघसमूह के समान, चञ्चल इन्द्रियरूपी हरिणों को बाँधने के लिये जाल के समान, प्रबलकषायरूपी पर्वत को तोड़ने के लिये वज्र के समान, और मोक्षमार्ग में ले जाने के लिये नहीं थकने वाली खच्चरी के समान जो भावनाएँ हैं, उनकी चिन्ता नित्य करनी चाहिये, क्योंकि अनित्यादि भावनाओं से वासितान्तःकरणवाले मनुष्य के हृदय में विषयविकारादि दुर्गुण अवकाश नहीं पा सक्ते। बौद्धशास्त्रकारों ने भी लिखा है कि ' अणिच्चा, दुक्खा, अणत्था '

अर्थात् संसार अनित्य, अनेक दुःखों से पूरित और नाना अनर्थों का कारण है ऐसा विचार करने वाला पुरुष कभी विकारी और दुर्गुणी नहीं होता।

जिसके हृदय में आत्मचिन्तन (शुभभावना) नहीं है वह विषयाधीन हुए विना नहीं रहता, इतना ही नहीं किन्तु वह विषयों के वशवर्त्ती हो वीर्यशक्ति को नष्ट कर, उभय लोक से भ्रष्ट हो जाता। है अतः उत्तमोत्तम पद की प्राप्ति के लिये अनित्यादि भावनाओं का चिन्तन कर निरन्तर ब्रह्मचर्य की सुरक्षा करते रहना चाहिये। भरत-चक्रवर्ती को आरीसाभवन में, कूर्मापत्र को गृहस्था वास में रहते हुए, गजसुकुमार को कायोत्सर्ग प्रतिमा में स्थित रहते हुए, कपिल को पुष्पवाटिका में, प्रसन्नचन्द्रराजर्षि को काउस्सग्गमें रहते हुए, और मरुदेवी माता को हस्ती पर बैठे हुए इन्हीं अनित्यादि शुभ भावनाओं के चिन्तन करने से कैवल्यज्ञान उत्पन्न हुआ था। इन भावनाओं के चिन्तन से अनेक भव्य पूर्वकाल में मोक्ष के अधि-कारी हुए, और वर्त्तमानकाल में होते हैं, तथा आगामी काल में होवेंगे। इसलिये सौन्दर्यसंपन्न सुरम्य तरुणस्त्रियों के मध्य में रहकर भी विकारी नहीं बनना चाहिये।

भगवान् नेमिनाथस्वामी, श्रीजम्बूस्वामी, श्री कूर्मापुत्र, आदि अनेक महात्मा दुर्जय कामदेव को पराजय कर सर्वोत्तमोत्तम पद को अलङ्कृत करनेवाले हुए है। जिन्होने ब्रह्मचर्यरूपी कर्पूरसुगन्धि से सारे संसार को सुवासित कर दिया और अनेक भव्यों को भवाम्बुधि से पार कर शाश्वत सुख का भागी बनाया। इत्यादि अनेक दृष्टान्त शास्त्रो में उपलब्ध होते हैं, परन्तु यहाँ पर केवल एक विजयकुँवर और विजयाकुँवरी का आश्चर्यजनक दृष्टान्त ही लिखा जाता है।

विजयकुँवर और विजयाकुँवरी—

सर्वदेशशिरोमणि कच्छ' देश में 'कौशाम्बी' नामक प्रख्यात और सत्ताईश वकारों से सुशोभित नगरी में धर्मपरायण 'अर्हद्दास' नामक सेठ रहता

---

(१) वापीवप्रविहारवर्णवनिता वाग्मी वन वाटिका,
विद्वद्ब्राह्मणवादिवारिविबुधा वेश्या वणिग्वाहिनी।
विद्यावीरविवेकवित्तविनया वाचयमो वल्लिका,
यस्मिन् वारणवाजिवस्त्रविषया राज्य तु तुच्छोभते ॥ ' ॥

भावार्थः—राज्य निम्न लिखित सत्ताईस वकारादि शब्दवाच्य पदार्थों मे साङ्गोपाङ्ग भूषित होकर शोभित होता है- अर्थात् वापी (बावड़ी) १, वप्र (प्राकार) २. विहार (चैत्य) ३, वर्ण (शुक्लनीलादि द्रव्य) ४, वनिता (सामान्यस्त्री) ५, वाग्मी

था, उसके सती कुलशिरोमणि 'अर्हद्दासी' नामक स्त्री थी, उन दोनों के वीच में अनेक मनोरथों से त्रिभुवन में आश्चर्योत्पादक और विनयादिसद्गुण-गणालङ्कृत 'विजय' नामक पुत्ररत्न हुआ। वह अभ्यास के योग्य होनेपर धर्माचार्य के पास पढ़ने लगा। एक समय धर्माचार्य ने कहा कि-

हे आयुष्मन्! इस दुःखात्मक संसार में ब्रह्मचर्य के सिवाय दूसरा कोई अमूल्य रत्न नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से अग्नी-जल, सर्प-पुष्पमाला, सिंह-मृग, विष-अमृत, विघ्न-महोत्सव, शत्रु-मित्र, समुद्र-तालाव और अरण्य-घररूप वन जाते हैं। शीलसंपन्न पुरुष सकलकर्मों का क्षयकरके इन्द्र नरेन्द्रों का भी पूज्य वन जाता है। कहा है कि-

---

(वावदूक-वाचाल) ६, वन (अरण्य) ७, वाटिका (उद्यान-फुलवाई) ८, विद्वान् (पण्डित) ९, ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ट) १०, वादी (वादकरने में कुशल) ११, वारि (जल) १२ विबुध (देवता) १३, वेश्या (वाराङ्गना) १४; वणिग् (वानिया) १५, वाहिनी (सेना, अथवा नदी) १६, विद्या (कलाकौशल) १७, वीर (शूर) १८, विवेक (सत्यासत्य का विचार) १६, वित्त (धन) २०, विनय (नम्रता) २१, वाचंयम (साधु) २२, वल्लिका (लताएँ) २३, वारण (हस्ती) २४, वाजी (घोडा) २५, वस्त्र (कपड़ा) २६ और विषय (इन्द्रियभोग) २७।

अमराः किङ्करायन्ते, सिद्धयः सहसङ्गताः ।
समीपस्थायिनी संप–च्छीलालङ्कारशालिनाम् ॥१॥

भावार्थ–ब्रह्मचर्यरूप अलङ्कारों से सुशोभित पुरुषों के देवता किङ्कर (नौकर) बन जाते है, सिद्धियाँ साथ मे रहती हैं और संपत्तियाँ भी समीप में बनी रहती है।

जिन पुरुषो ने ब्रह्मचर्य का तिरस्कार किया उन्होने जगत् मे अपयश का डंका बजा दिया, गोत्र में स्याही का कलङ्क लगा दिया, चारित्र को जलाञ्जलि दे दी, अनेक गुणों के बगीचे में अग्नि लगा दी, समस्त विपत्तियो को आने के लिये संकेतस्थान बता दिया और मोक्षरूपी नगर के दरवाजे में मानों मजबूत किवाड़ लगा दिये।

इस प्रकार धर्माचार्य का सदुपदेश सुनकर विजयकुँवर ने स्वदारासन्तोषव्रत लिया, और शुक्लपक्ष में तीनकरण और तीनयोग से सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन करने का दुर्द्धर नियम धारण किया।

उसी कौशाम्बी नगरी में ' धनावह ' सेठ की ' धनश्री ' नाम की स्त्री की कुक्षि से ' विजया ' नामक पुत्री उत्पन्न हुई और वह अभ्यास के लायक

अवस्था वाली होनेपर आर्यिकाओं के पास विद्याभ्यास करने लगी। किसी समय प्रसंगप्राप्त आर्यिकाओं ने उपदेश देना शुरू किया कि—

हे बालिकाओ! संसार में स्त्रियों के लिये परम शोभा का कारण एक शीलव्रत ही है, जितनी शोभा बहुमूल्य रत्नजटित अलङ्कारों से नही होती उतनी शोभा स्त्रियों के शीलपरिपालन से होती है। जो कुलवती स्त्रियाँ अखण्ड शीलव्रत को धारण करती हैं, उनकी व्याघ्र सर्प जल अग्नि आदिक से होनेवाली विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, उनके आनन्द मंगल सदा बने रहते हैं, देवता उनके समीप ही रहते हैं, उनकी कीर्ति संसारमें छाई रहती है, और स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख अतिसमीप आ जाते हैं। शास्त्रकार महर्षियों का कथन है कि—

सीलं सत्तरोगहरं, सीलं आरुग्गकारणं परमं।
सीलं दोहग्गहरं, सीलं सिवसुक्खदायारं॥ १॥

भावार्थ—शील प्राणियों का रोग हरण करनेवाला, शील आरोग्यता का उत्कृष्ट कारण, शील दौर्भाग्य का नाशक, और शील मोक्षसुख का देनेवाला होता है।

अतएव स्त्रियों को शील की रक्षा करने में अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। जो स्त्रियाँ शील की सुरक्षा न कर कुशील सेवन किया करती है, वे उभयलोक में अनेक दुःख देखा करती हैं। जिस स्त्री का चाल चलन अच्छा होता है उसकी सब कोई प्रशंसा करते है। दुश्चरित्रा स्त्रियों का न कोई विश्वास करता है और न कोई उनसे प्रीति ही रखता है।

आर्यिकाओं के इन सुबोध वचनों को सुनकर विजया ने 'स्वपतिसन्तोषव्रत' लिया और वह भी कृष्णपक्ष मे सर्वथा ब्रह्मचर्य धारण करने का नियम स्वीकार किया। पाठकगण! यद्यपि अभी ये दोनों कौमारावस्था में ही है तो भी दोनों ने कितना दुर्द्धर व्रत ग्रहण किया है? यही इनके सर्वोत्तमोत्तमता के लक्षण है।

भवितव्यता वशात् रूप, लावण्य और अवस्था समान होने से दोनों का विवाहसंयोग जोड़ा गया। माता पिताओं को दोनों (बालक तथा बालिका) की प्रतिज्ञा की मालूम नहीं थी, इससे इनका परस्पर विवाह हो गया। रात्रि के समय

विजया सोलह शृङ्गार सजकर और दिव्य वस्त्र धारण कर पति के शयनागार में प्राप्त हुई, तव विजयकुँवर ने अत्यन्त मधुर वचनों से कहा कि—

हे सुभगे ! तूं मेरा हृदय, जीव, उच्छ्वास और प्राण है, क्योंकि संसार में प्राणियों के प्रिया ही सर्वस्व है। तुम्हारे सदृश प्रियतमा को पाकर मैं स्वर्गलोक के सुखों को भी तृणसमान समझता हूँ। परन्तु शुक्लपक्ष में मैंने त्रिकरणशुद्धि पूर्वक सर्वतः ब्रह्मचर्य धारण किया है, अव केवल उस पक्ष के तीन दिन बाकी हैं, इसलिये उनके वीत जाने पर आनन्द का समय प्राप्त होगा। इस बात को सुन कर विजया दुःखी हुई।

तब विजयकुँवर ने दुःखी होने का कारण पूछा, जब हाथ जोड़कर विनयावनत हो विजया ने कहा कि—स्वामिन् ! मेरे भी कृष्णपक्ष में सर्वतः शील-पालने का अभिग्रह लिया हुआ है, इससे आप दूसरी रमणी के साथ विवाह करिये, क्योंकि पुरुषों के अनेक स्त्रियाँ हो सकती हैं।

यह सुन विजयकुँवर बोला कि—हे सुशीले ! मैं तो प्रथम ही दीक्षा लेनेवाला था, परन्तु माता पिता ने हठ से विवाह कर दिया। इसलिये मुझे

दूसरी स्त्री के साथ विवाह करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विषयसेवन से कुछ आयुवृद्धि नहीं होती, किन्तु बहुतकाल पर्यन्त सेवन किये हुए भी विषय पर्यवसान (अन्त) में दुःखदायक ही होते हैं ।

जिस विषय सेवन से कंप, थकावट, परिश्रम, मूर्च्छा, भ्रम, ग्लानि, बल का क्षय और क्षयरोग आदि अनेक विपत्तियाँ जाग उठती है वह धर्मात्माओं को आन्ददायक कैसे हो सकता है? । अतएव संसार में स्रक्, चन्दन और अंगना आदि पुद्गलजनित विनाशी विषयसुख हैं, वे परमार्थतः दुःखरूप ही है, इससे त्रिकरणशुद्धि पूर्वक आजन्म पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन करूंगा । अपन दोनों का यथार्थ समागम पूर्वपुण्य के योग से ही प्राप्त हुआ है, लेकिन यह वृत्तान्त किसीको मालूम हो जाय तो अवश्य दीक्षा ले लेनी चाहिये ।

अपने प्रियतम के इस प्रकार महोत्तम वचनों को सुनकर विजया अत्यानन्दित हुई, और पति आज्ञा को शिरोधार्य किया । इस प्रकार ये दोनों (दम्पती) स्वजीवित की तरह ब्रह्मचर्य को परिपालन करने लगे ।

अहा ! हा ! ! नवीन यौवन की फैलती हुई अवस्था में भी विवाह करके जिन्होंने सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन किया, यह आश्चर्य किसके हृदय को आनन्दित नहीं कर सकता ? । स्त्री के साथ एक ही सुकोमल शय्या के ऊपर शयन करना और फिर मदन के वशवर्त्ती न होना यह कितनी अमेय शक्ति है ? शृंगाररूपी वृक्षों के लिये मेघ समान, रसिक क्रीड़ा का प्रवाहमय, कामदेव का प्रियवन्धु, चतुर वचनरूपी मोतिओं का समुद्र, सौभाग्यलक्ष्मी का निधिभूत, और स्त्रियों के नेत्ररूपी चकोरों को आनन्दित करने में पूर्णचन्द्र ऐसे नवीन यौवन को प्राप्त हुए सत्पुरुष मनोविकार की मलिनता से कलंकित नहीं बनते, अतएव उनकी जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है ।

ये दम्पती निर्विकारी और भावचारित्र की पात्रता को धारण कर उत्तमोत्तम शीलविषयक विचार करते हुए अपना समय व्यतीत करने लगे ।

इसी अवसर में 'चंपा' नगरी में 'विमल-केवली' पधारे। उनके सदुपदेशों को सुनकर 'जिन-दास' सेठ ने पूछा कि—स्वामिन् ! चौरासी हजार तथारूप साधुओं को पारणा कराने का मैं ने अभि-

ग्रह लिया है, वह कब पूर्ण होगा ?। विमलकेवली भगवान् ने कहा कि चौरासी हजार साधुओं का एकदम समागम मिलना दुर्लभ है, कदाचित् दैव-योग से मिल भी जाय तो इतने साधुओं के लिये एक ही घर में निर्दोष आहार का मिलना आकाश-पुष्पवत् है। इसलिये कच्छदेशस्थ कौशाम्बी नगरी में स्थित शीलालङ्कारसुशोभित विजयकुँवर और विजयाकुँवरी की अशनादिक से भक्ति करो, उससे उतना ही पुण्य होगा जितना तुम चाहते हो। कहा भी है कि—

चउरासीइ सहस्साणं, समणाणं पारणेणं जं पुण्णं।
तं किण्हसुक्कपक्खे सुसीलपिय कतभत्तेण ॥ १ ॥

भावार्थ—चउरासी हजार साधुओं को पारणा के दिन वहिराने से जो पुण्य होता है उतना कृष्ण-पक्ष और शुक्लपक्ष में शीलप्रिय—विजयकुँवर और विजयाकुँवरी के भक्त को होता है।

इस बात को सुन 'जिनदास' कौशाम्बी नगरी में जाकर नागरिक लोगों के और उनके माता पिताओं के आगे उन दोनों का दुर्द्धर आश्चर्योत्पादक चरित्र प्रकट करता हुआ और शुद्ध अन्न, पान,

वस्त्र; आदिक से भक्ति कर अपने स्थान को पीछा लौट आया। तदनन्तर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण हुई मानकर विजयकुँवर और विजया कुँवरी पारमेश्वरी दीक्षा महोत्सवपूर्वक लेते हुए और निरतीचार चारित्र पालनकर मोक्षधाम को प्राप्त हुए।

उत्तमोत्तमपुरुषों का स्वरूप–

एवंविह जुवइगओ, जो रागी हुज्ज कह वि इगसमयं
वीयसमयम्मि निंदइ, तं पावं सव्वभावेण ॥ १७ ॥

एवंविधयुवतिगतो, यो रागी भवेत्कथमप्येकसमये।
द्वितीयसमये निन्दति, तत्पापं सर्वभावेन ॥ १७ ॥

भावार्थ–(एवंविह) इस प्रकार की सर्वोत्तम-रूपवाली (जुवइगओ) स्त्रियों में प्राप्त (जो) जो पुरुष (कह वि) किसी प्रकार (इग समयं) एक समयमात्र (रागी) विकारी (हुज्ज) हो (वीय-समयम्मि) दूसरे समय में (तं) उस (पावं) पाप को (सव्वभावेणं) सर्वभाव से (निंदइ) निन्दता है।

जम्मम्मि तम्मि न पुणो, हविज्ज रागी मणम्मि कया।
सो होइ उत्तमुत्तम-रूवो पुरिसो महासत्तो ॥१८॥

(जन्मनि तस्मिन्न पुन–र्भवेद्रागी मनसि कदाचित्।
स भवत्युत्तमोत्तम–रूपः पुरुषो महासत्त्वः ॥ १८ ॥)

भावार्थ–(पुणो) फिर (तम्मि) उस (जम्मम्मि) जन्म मे (कया) कभी (मणम्मि) मन में (रागी) विकारी (न) नहीं (हविज्ज) होवे (सो) वह (महासत्तो) महासत्त्ववान् (पुरिसो) पुरुष (उत्तमुत्तमरूवो) उतमोत्तमरूप (होइ) होता है, अर्थात् कहा जाता है।

भावार्थ–सर्वोत्तमरूपवाली स्त्रियों में प्राप्त, पुरुष कदाचित् समयमात्र विकारी हो, दूसरे समय में सँभलकर यदि पूर्णभाव से उस पाप की निन्दा अर्थात् पश्चात्ताप करता है और फिर जन्मपर्यन्त जिसका मन विकाराधीन नहीं होता, वह मनुष्य उत्तमोत्तम और महावलवान् कहा जाता है।

विवेचन–स्त्रियो का स्मरण न करना, स्त्रियों के शृङ्गारादि का गुण वर्णन न करना, स्त्रियों के साथ हास्य कुतूहल न करना, स्त्रियों के अङ्ग प्रत्यङ्ग का अवलोकन न करना, स्त्रियों से एकान्त में वात न करना, स्त्री–संवन्धी कल्पना मन में न लाना, स्त्रियों से मिलने का संकेत न करना, और स्त्रियों से शारीरिक संग न करना, यही ब्रह्मचारी पुरुपों का मुख्य कर्त्तव्य है। जो लोग इससे विपरीत वर्त्ताव करते हैं, उनका ब्रह्मचर्य खंडित हुए विना नहीं रहता।

इसीसे महर्षियों ने कहा है-कि जिसप्रकार मूसे को बिल्ली का, मृग को सिंह का, सर्प को मयूर का, चोर को राजा का, मनुष्यादि प्राणियों को कृतान्त (यम) का और कामी को लोकापवाद का भय रहता है उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुषों को स्त्रियों से नित्य भय रखना चाहिये। क्यों कि स्त्रियाँ स्मरण-मात्र से मनुष्यों के प्राण हर लेती हैं, अतएव मनुष्यों को चाहिये कि अपनी योग्यता उच्चतम बनाने के लिये मन को विषयविकारों से हटाने का अभ्यास करें। क्योंकि 'अप्पावियारा बहुसुहा' जो अल्पविकारी होते हैं वे जीव बहुत सुखी हैं, ऐसा शास्त्रकारों का कथन है।

कदाचित् संयोगवश मानसिक विकार कभी सतावें, तो उनको शीघ्र रोकने की तजबीज करना चाहिये।

अर्थात् स्त्रियों के रूप वगैरह देखने से जो मानसिक विकार उत्पन्न होवे तो यह विचार करना चाहिये कि स्त्रियाँ मेरा कल्याण नहीं कर सकतीं, किन्तु मुझे इनके संयोग और वियोग से जिस समय अनेक दुःख होंगे, उस समय स्त्रियाँ कुछ सहायक नहीं हो सकेंगी। स्त्रियों में फँसने से

पहिले संकट भोगने पड़ते है, फिर कामभोग मिलते है, अथवा प्रथम कामभोग मिले तो पीछे से संकट भोगना पड़ते हैं, क्यों कि स्त्रियाँ कलह को उत्पन्न करनेवाली होती हैं। विषयो में आसक्त रहने से नरकादि गतियों का अनुभव करना पड़ता है, अतएव विषयो में चित्त को जोड़ना ठीक नहीं है।

जो पुरुष युवतिगत मनोविकार को शीघ्र खींचकर फिर सँभल जाते है और फिर आजन्म विषयादि विकारों के आधीन न हो अखंड ब्रह्मचर्य पालन करते है वे पुरुष 'रथनेमि' की तरह उत्तमोत्तम कोटी में प्रविष्ट हो सकते है, क्योंकि पड़कर सँभलना बहुत मुश्किल है, यहाँपर इसी विषय को दृढ़ करने के लिये रथनेमि का दृष्टान्त लिखा जाता है–

जिस समय भगवान् 'अरिष्टनेमि'ने राज्यादि समस्त परिभोगो का त्याग कर संयम स्वीकार किया, तब उन का बड़ाभाई रथनेमि काम से पीड़ित हो सतीशिरोमणि बालब्रह्मचारिणी रूपसौभाग्यान्विता 'राजीमती' की परिचर्या करने लगा। रथनेमि का अभिप्राय यह था कि यदि मैं राजीमती को सन्तुष्ट

रक्खूँगा तो वह मेरे साथ भोगविलास करेगी, परन्तु राजीमती तो भगवान् के दीक्षा लेने के वाद विलकुल भोगों से विरक्त होगई थी।

रथनेमि का यह दुष्ट अध्यवसाय राजीमती को मालूम हो गया, इससे वह एकदिन शिखरिणी का भोजन करके वैठी थी, उसी समय रथनेमि उसके पास आया, तव राजीमती ने मयणफल को सूँघकर खाये हुए भोजन का वान्त किया, और कहा कि– हे रथनेमि! इस वान्त शिखरिणी को तूँ खाले। रथनेमि ने कहा–यह भोजन क्या खाने योग्य है ?; भला! इसे मैं कैसे खा सकता हूँ ?

राजीमती ने कहा जो तूँ रसनेन्द्रियविषयभूत शिखरिणी को नहीं खा सकता, तो भगवान् अरिष्टनेमिजी की दृष्टिसे उपभुक्त मेरी वांछा क्यों करता है? क्या यह अकार्य करना तुझको उचित है। इसलिये–

धिरत्थु तेऽजसोकामी !, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउ; सेयं तं मरणं भवे ॥ ७ ॥

भावार्थ–हे अयशस्कामिन्! तेरे पौरुषत्व को धिक्कार हो, जो तूँ असंयम से जीने की इच्छा से वान्तभोगों के भोगने की इच्छा करता है। मर्यादा उल्लंघन करने से तो तेरा मरना ही कल्याणरूप है,

अर्थात् अकार्य प्रवृत्ति से तेरा कल्याण नहीं होगा। क्योंकि जलती हुई अग्नि मे पैठना अच्छा है, परन्तु शीलस्खलित जीवित अच्छा नहीं है।

राजीमती के ऐसे वचनप्रहारों से सॅभलकर रथनेमि वैराग्य से दीक्षित हुआ। उधर राजीमती ने भी ससार को असार जानकर चारित्र ग्रहण कर लिया। एक समय रथनेमि द्वारावती नगरी में गोचरी लेने को गया, वहॉ ऊँच नीच मध्यम कुलों मे पर्यटन कर पीछा भगवान् के पास आते हुए रास्ते में वर्षा वरसने से पीड़ित हो एक गुहा में ठहर गया। इतने में राजीमती भी भगवान् को वन्दनकर पीछी लौटी, और वर्षा वहुत होने लगी, इससे ' वर्षा जव तक वद् न हो तव तक कहीं ठहरना चाहिये ? ' ऐसा विचार करके जिस गुहा में रथनेमि था, उसीमें आई और भींजे हुए कपड़ों को उतार कर सुखाने लगी।

दिव्यरूपधारिणी सयती के अङ्ग प्रत्यङ्गो को देखकर रथनेमि फिर कामातुर हो भोगों के लिये प्रार्थना करने लगा, तव संयती राजीमती ने धैर्य धारण कर कहा कि–

है। वास्तव में कभी विकाराधीन न होना सर्वोत्त-मोत्तम है, परन्तु कदाचित् प्रसंगवश चित्त चल विचल हो जाय, तो उसको शीघ्र रोककर शुभ विचारों में प्रवृत्ति करना चाहिये। क्योंकि जैसे जलसे सरोवर, धन से प्रभुता, वेग से अश्व, चन्द्र से रात्रि, जीव से शरीर, सद्गुण से पुत्र, उत्तमरस से काव्य, शीतल छाया से वृक्ष, लवण से व्यंजन, और प्रेम से प्रमदा शोभित है, उसी तरह उत्तम वि-चारों से मनुष्य की शोभा होती है। अतएव सद्गुण की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को निरंतर अपने विचारों को सुधारते रहना चाहिये। जो विचारों को सुधारता रहता है उसको विषयादि विकार कभी नहीं सताते। विचार का दूसरा नाम भावना है। भावना दो प्रकार की है; एक तो शुभ भावना, और दूसरी अशुभ भावना।

पूर्व वर्णित मैत्री आदि शुभ, और क्रोध आदि अशुभ भावना कही जाती है। शुभ भावनाओं से आत्मा निर्विकारी, और अशुभभावनाओं से विकारी होता है। ब्रह्मचारियों को नित्य शुभभावनाओं की ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये, जिससे आत्मा निर्विकारी बन उत्तमोत्तम बने। क्योंकि निर्विकारी

मनुष्य ही आर्त्त रौद्र ध्यान, मद मात्सर्य आदि दोषों से रहित हो अपना और दूसरों का कल्याण कर उत्तमोत्तम पद विलासी बना सकता है।

उत्तम पुरुषों के लक्षण—

पिच्छिय जुवईरूव, मणसा चिंतेइ अहव खणमेग।
जो नायरइ अकज्जं, पत्थिज्जंतो वि इत्थीहिं ॥१९॥

साहू वा सड्ढो वा, सदारसतोससायरो हुज्जा।
सो पुण उत्तममणुओ, नायव्वो थोवसंसारो ॥२०॥

प्रेक्ष्य युवतीरूप, मनसा चिन्तयत्यथवा क्षणमेकम्।
यो नाचरत्यकार्यं, प्रार्थ्यमानोऽपि स्त्रीभिः ॥ १९ ॥

साधुर्वा श्राद्धो वा, स्वदारसन्तोपसादरो भवेत्।
स पुनरुत्तममनुष्यो, ज्ञातव्यः स्तोकसंसारः ॥ २० ॥

शब्दार्थ-(जो) जो (साहू) साधु (जुवई-रूवं) स्त्रियों के रूप को (पिच्छिय) अवलोकन कर (खणमेगं) क्षणमात्र (मणसा) मनसे (चिंतेइ) विषय की चिन्ता करता है (अहव) अथवा (इत्थीहिं) स्त्रियों से (पत्थिज्जंतो वि) प्रार्थित—याचित होने पर भी (अकज्जं) अकार्य को (नायरइ) नहीं आचरण करता ॥ १९ ॥ (साहू) साधु (वा) अथवा (सड्ढो) श्रावक (सदारसंतोससायरो) स्वस्त्री में अतीवसन्तोषी (हुज्जा) हो (सो) वह साधु और श्रावक

(थोवसंसारो) अल्पसंसारी (उत्तममणुओ) उत्तम मनुष्य (नायव्वो) जानना चाहिये ।

भावार्थ--युवावस्थावाली रूपवती स्त्रियों को अवलोकनकर क्षणभर मनसे विषयभोग की इच्छा, अथवा स्त्रियों से भोग के लिये प्रार्थित होनेपर भी जो पुरुष विषयाचरण नहीं करता, किन्तु साधु हो तो स्वकीय ब्रह्मचर्य, व श्रावक हो तो ब्रह्मचर्य अथवा स्वदारसन्तोषव्रत पालन करता रहता है वह 'उत्तम' पुरुष कहा जाता है ।

विवेचन–जिन साधु अथवा स्वदारसन्तोषी श्रावकों का चित्त युवतियों के रूप, हाव, भाव, आदि को देखकर चल विचल नहीं होता, वे महापुरुष उत्तम कोटी में समझे जा सकते हैं । इससे यह बात सिद्ध हुई कि साधुओं को संसारावस्था में रमणियों के साथ की हुई कामक्रीडा का स्मरण न कर और सर्वथा ब्रह्मचर्य पालन कर वीर्यरक्षा करने में उद्यत रहना चाहिये । क्योंकि जिसने वीर्यरक्षा नहीं की, वह धर्म के ऊँचे सोपान पर चढ़ने के लिये असमर्थ है । वीर्य मनुष्य के शरीर का राजा है, जैसे राजा विना राज्य व्यवस्था नहीं चल सकती, वैसेही वीर्यहीन मनुष्य प्रभा रहित हो कम-

हिम्मत होता है, इससे वह अपनी आत्मशक्ति का विकास भले प्रकार नहीं कर सकता। इसीसे श्री-हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने लिखा है कि—

" प्रयातु लक्ष्मीश्चपलस्वभावा,
गुणा विवेकप्रमुखाः प्रयान्तु ।
प्राणाश्च गच्छन्तु कृतप्रयाणा',
मा यातु सत्त्वं तु नृणां कदाचित् " ॥ १ ॥

भावार्थ–चाहे चपलस्वभाववाली लक्ष्मी चली जाय, चाहे विवेक आदि गुण चले जाँय, और प्रयाणोन्मुख प्राण भी चले जाँय, परन्तु मनुष्यों का सत्त्व–वीर्य कभी नहीं जाना चाहिये, क्यों कि वीर्य-रक्षा की जायगी तो विवेक प्रमुख सभी गुण स्वयं उत्पन्न हो जायँगे।

वीर्यरक्षा करना सर्वोत्तम गुण है इसीसे अति दुर्जय कर्मों का नाश होकर परमानन्दपद प्राप्त होता है। अतएव व्याख्यान देनेवालो को इस गुण की आवश्यकता है, तथा लिखनेवालो को, युद्धवीरों को, और वादवीरों को इसी गुण की आवश्यकता है। मुनिजन भी इस गुण के विना आत्मकल्याण और देशोपकार नहीं कर सकते। कोई भी महत्व का

कार्य जिसको देखकर लोक आश्चर्यान्वित हों, वह वीर्यरक्षा के अभाव में पूर्ण नहीं हो सकता। पूर्व समय में मनुष्यों की दिव्यशक्ति, उनका अभ्यास और उनकी स्मरणशक्ति, इतनी प्रबल थी कि जिसको सुनने से आश्चर्य और संशय उत्पन्न होता है, लेकिन इस समय ऐसा न होने का कारण शारीरक निर्बलता अर्थात् वीर्यरक्षा न करना ही है। पूर्वपुरुषों में वीर्यरक्षा (ब्रह्मचर्य) रखने का सद्गुण महोत्तम प्रकार का था, इससे वे आश्चर्यजनक कार्यों को क्षणमात्र में कर-डालते थे। इस लिये साधुओं को उचित्त है कि सर्वप्रकारेण ब्रह्मचर्य पालन करते रहें, किन्तु विषयाधीन न हों।

इसी तरह श्रावकों को भी ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन करना बडा कठिन है, इससे यदि सर्वथा ब्रह्मचर्य न पाला जा सकता हो तो स्वदारसन्तोषव्रत धारण करना चाहिये। क्योंकि प्राण सन्देह को उत्पन्न करनेवाला, उत्कृष्ट वैर का कारण, और दोनों लोक में विरुद्ध परस्त्रीगमन, बुद्धिमानों को अवश्य छोड़ने के योग्य है। परस्त्रीगामी का सर्वस्व नष्ट होता है, वधबन्धनादि कष्ट में पडकर आखिर नरक का अतिथि बनना

पडता है। परस्त्रियों में रमण करने की इच्छा से विश्वविजयी रावण, कीचक, पद्मोत्तर और ललिताङ्ग आदि अनेक लोग निन्दा के पात्र बन कर दुःखी हुए हैं। अतएव अतिलावण्यवती, सौन्दर्यसपन्न और सकल कलाओं में निपुण भी जो परस्त्री हो, तौभी वह त्याग करने ही के लायक है। जब शास्त्रकार स्वस्त्री में भी अति आसक्त रहना वर्जित करते हैं, तो परस्त्रीगमन की बात ही क्या है ?, वह तो सर्वथा त्याज्य ही है।

" तुम्हें जिस वीर्य या पराक्रम की प्राप्ति हुई है, वह तुम्हारी और दूसरों की उन्नति करने के लिये सबसे प्रधान और उत्तम साधन है। उसको पाशविक प्रवृत्तियों के सन्तुष्ट करने में मत खोओ। उच्च आनन्द की पहचान करना सीखो, यदि बन सके तो अखण्ड ब्रह्मचारी रहो, नहीं तो ऐसी स्त्री खोजकर अपनी सहचारिणी बनाओ, जो तुम्हारे विचारों में बाधक न हो, और उस ही से सन्तुष्ट रहो। अगर सहचारिणी बनने के योग्य कोई न मिले, या मिलने पर वह तुमको प्राप्त न हो सके, तो अविवाहित रहने का ही प्रयास करो। विवाहित स्थिति चारों तरफ उड़ती हुई मनोवृत्तियों को

रोकने के लिये संकुचित या मर्यादित करने के लिये है, वह यदि दोनों के, या एक के असन्तोष का कारण हो जाय, तो उलटी हानिकारक होगी। अतः अपनी शक्ति, अपने विचार, अपनी स्थिति, अपने साधन और पात्र की योग्यता आदि का विचार कर के ही व्याह करो; नहीं तो कुँवारे ही रहो। यह माना जाता है कि विवाह करना ही मनुष्य का मुख्य नियम है, और कुँवारा रहना अपवाद है; परन्तु तुम्हें इस के बदले कुँवारा रहकर ब्रह्मचर्य पालना, या सारी, अथवा मुख्य मुख्य बातों की अनुकूलता होनेपर व्याह करना, इसे ही मुख्य नियम बना लेना चाहिये। विवाहित जीवन को विषयवासनाओं के लिये अमर्यादित, यथेच्छ स्व-तंत्र मानना सर्वथा भूल है। वासनाओं को कम करना और आत्मिक एकता करना सीखो। अश्लील शब्दों से, अश्लील दृश्यों से, और अश्लील कल्प-नाओं से सदैव दूर रहो। तुम किसी के सगाई व्याह मत करो, क्योंकि तुम्हें इसका किसीने अ-धिकार नहीं दे रक्खा है। विवाह के आशय को नहीं समझने वाले और सहचारीपन के कर्त्तव्य को नहीं पहचाननेवाले पात्रों को जो मनुष्य एक दूसरे

की बलात् प्राप्त हुई दासता, या गुलामी में पटकता है, वह चौथे व्रत का अतिक्रम करता है, दया का खून करता है, और चोरी करता है।"

मन को स्त्रीसमागम से दूर रखना, स्त्रियों के साथ रागदृष्टि से बातचीत न करना, कामविकार के नेत्रों से स्त्रियों को न देखना तथा स्त्रियों का स्पर्श न करना, ये, अथवा ब्रह्मचर्य और विवाह हुए बाद स्वस्त्री में, तथा स्त्री को स्वपति में, जो सन्तोष हो, वही 'शील' कहा जाता है।

हरएक पुरुष को कौमारावस्था मे अठारह या वीस, तथा स्त्री को सोलह वर्ष तक तो अवश्य ब्रह्मचर्य परिपालन करना चाहिये। विवाह के अनन्तर पुरुषों को स्वदार, और स्त्रियों को स्वपति में सन्तोष व्रत धारण करना चाहिये। जहाँ पर पुरुष स्त्रियों में शीलदृढता का सद्गुण होता है वहाँ निरन्तर अटूट स्नेहभाव बना रहता है, और जो पुरुष परस्त्रियों में, तथा स्त्रियाँ परपुरुषों में आसक्त है, वे अनेक जन्म तक क्लीवता, तिर्यक्योनि में उत्पत्ति, दौर्भाग्य, निर्बलता, और अपमान आदि विपत्तियों के पात्र बनकर दुःखी होते हैं।

शीलपरिपालन से शरीर पूर्ण निरोगी और ते-

जस्वी वनता है, इसलिये शीलवान् विद्युत् की तरह दूसरों के चित्त को अपने तरफ खींचकर सुशील और सद्गुणी वना सकता है। संसार में जो जो पुरुष पराक्रमी, तथा महत्कार्यकर्त्ता हुए हैं, वे शील के प्रभाव से ही प्रख्यात हुए हैं। स्वदार सन्तोषी मनुष्य यदि दीक्षा लेकर भी संयोगवश विकारी होगा तो भी वह अपनी योग्यता और उत्तमता का विचार कर अकार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, और न उसको कोई स्त्री मोहपाश में डाल सकेगी, क्योंकि वह स्त्रियों से निरन्तर वचकर रहता है।

अब मध्यमपुरुषों का स्वरूप कहते हैं—

पुरिसत्थेसु पवट्टइ, जो पुरिसो धम्मअत्थपमुहेसु।
अन्नोन्नमव्वाबाहं, मज्झिमरूवो हवइ एसो ॥ २१ ॥

पुरुषार्थेषु प्रवर्त्तते, यः पुरुषो धर्मार्थप्रमुखेषु।
अन्योऽन्यमव्याबाधं, मध्यमरूपो भवत्येषः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ-(जो) जो (पुरिसो) मनुष्य (धम्म-अत्थपमुहेसु) धर्म अर्थ प्रमुख (पुरिसत्थेसु) पुरुषार्थों में (अन्नोन्नं) परस्पर (अव्वाबाहं) बाधा-रहित (पवट्टइ) प्रवृत्ति करता है, (एसो) वह (मज्झिमरूवो) मध्यमरूप (हवइ) होता है।

भावार्थ—जो धर्म, अर्थ और काम; इन तीन

पुरुषार्थों को परस्पर बाधारहित साधन करता है, वह 'मध्यमपुरुष' कहलाता है।

विवेचन–धर्म, अर्थ और काम को किसी प्रकार की बाधा न पडे, इस प्रकार तीनों पुरुषार्थों का उचित सेवन करनेवाले मनुष्य मध्यमभेद में गिने जाते है। इससे यह बात भी स्पष्ट जान पडती है कि ऐसा पुरुष मार्गानुसारि गुणों के बिना नहीं हो सकता, क्योंकि 'धर्म, अर्थ और काम को परस्पर बाधारहित सेवन करना' यह मार्गानुसारी गुणों मे से इक्कीसवॉ गुण है, अत एव मार्गानुसारि सदाचारप्रिय और मध्यस्थ स्वभाववाले पुरुष मध्यमभेद मे गिने जा सकते है। हरएक धर्म से सार सार तत्त्व को खींच लेना, सदाचारसंपन्न मनुष्यो के सद्गुणो पर अनुरागी बनना, और कलह से रहित हो समानदृष्टि रहना यह मार्गानुसारी पुरुषों का ही काम है। मार्गानुसारी पुरुषों का हृदय आदर्श के समान है, उसमें सद्गुणों का प्रतिबिम्ब पडे बिना नहीं रह सकता, और वह प्रतिबिम्ब प्रतिदिन बढता ही रहता है। मार्गानुसारी पुरुषों का आत्मा महान् कार्य सम्पादन के लिये, या अनन्त, या असंख्य भवों की व्याधि मिटाने के लिये और

आत्मशक्ति, विचारबल, या नीतिशास्त्र का विकास करने के लिये समर्थ होता है। इस लिये प्रसंग प्राप्त मार्गानुसारी गुणों का स्वरूप लिखा जाता है, जिनको मनन करने से मनुष्य सुगमतासे उच्चकोटि में प्रवेश कर सकता है।

" न्यायसंपन्नविभवः, शिष्टाचारप्रशंसकः।
कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥१॥ "

१ ' न्यायसंपन्नविभवः '–प्रथम न्यायोपार्जित द्रव्य हो तो उसके प्रभाव से सभी सद्गुण प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु न्याय को जाने विना न्याय का पालन भले प्रकार नहीं हो सकता, अतएव न्याय का स्वरूप यह है कि–" स्वामिद्रोहमित्रद्रोहविश्वसितवञ्चनचौर्याऽऽदिगर्ह्यार्थोपार्जनपरिहारेणार्थोपार्जनोपायभूतः स्वस्ववर्णानुरूपः सदाचारो न्याय इति।" अर्थात् स्वामिद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वस्त पुरुषों का वञ्चन और चोरी आदि निन्दित कर्मों से द्रव्य उपार्जन करना इत्यादि कुकर्मों का त्यागकर अपने अपने वर्णानुसार जो सदाचार है, उसका नाम न्याय, और उस से प्राप्त जो द्रव्य है, उसका नाम ' न्यायसंपन्न द्रव्य' है। न्यायोपार्जित द्रव्य उभय लोक में सुख कारक और अन्यायोपार्जित द्रव्य दुःखदायक होता है।

अन्याय से पैदा की हुई लक्ष्मी का परिभोग करने से वध बन्धन आदि राजदण्ड, और लोकापमान होता है, और परलोक में नरक, तिर्यञ्च, आदि दुर्गतियों मे वेदना का अनुभव करना पड़ता है। लोगो में यह भी शङ्का होती है कि इसके पास बिलकुल द्रव्य नहीं था, तो क्या किसी को ठगकर, या चोरी करके द्रव्य लाया है ?। कदाचित् प्रबलपुण्य का उदय हुआ तो इस लोक में तो लोकापमान, या राजदण्ड नहीं होगा, किन्तु भवान्तर में तो उसका फल अवश्य ही भोगना पडेगा।

यह तो निःसंशय कहा जा सकता है कि जो अन्यायोपार्जित द्रव्य का परिभोग करता है उसकी सुबुद्धि नष्ट होकर अकार्य में प्रवृत्ति करने को दौडा करती है। इसी विषय को दृढ़ करने के लिये शास्त्रकारों ने एक उदाहरण दिया है कि—

किसी राजा ने राजमहल बनाने के लिये ज्योतिषियों को बुलाकर कहा कि—खात मुहूर्त्त किस रोज करना चाहिये ?, कोई ऐसा मुहूर्त निकालो, जिस से कि हमारी संतति राजभवन मे रहकर सुख पूर्वक चिरकाल राज्य करे। राजा के पूछते ही ज्योतिषियों

ने सर्वोत्तम खातमुहूर्त्त निकाल दिया। मुहूर्त्त के एक दिन पेस्तर नगर में यह उद्घोषणा कराई गयी कि—कल राजमहल बनाने का खातमुहूर्त्त है, इसलिये वहाँ सभी को हाजिर होना चाहिये। इस उद्घोषणा को सुनकर दूसरे दिन सेठ साहूकार आदि सैकड़ों लोग इकठे हुए।

राजा ने ज्योतिषियों से कहा कि—अब मूहूर्त्त में कितना समय घटता है ?। ज्योतिषी बोले कि चार घड़ी। राजा ने कहा यदि इस समय में कोई वस्तु विधि कराने के लिये चाहिये तो कहो। ज्योतिषियों ने कहा—महाराज! खातमुहूर्त्त के वास्ते पाँच जाति के पाँच रत्न चाहिये, जोकि न्यायोपार्जित हों। राजा ने अपने भंडार से लाने को कहा। इतने में ज्योतिषियों ने कहा कि—राजन्! राज्यलक्ष्मी के विषय में तत्त्ववेत्ता पुरुषों का अभिप्राय कुछ और ही है, अत एव किसी व्यापारी के यहाँ से मंगवाना चाहिये। राजा के पास हजारों व्यापारी उपस्थित थे, उनके तरफ राजाने देखा, किन्तु कोई व्यापारी बोला नहीं। तब मंत्री ने कहा—जो कोई नीति पूर्वक व्यापार करता हो, उसको आज राजवल्लभ बनने का समय है। परन्तु सब कोई अपने

अपने कर्त्तव्यों को जानते है, जो कभी स्वप्न में भी नीतिपथ के दर्शन नहीं करते, वे यदि नीतिज्ञ बनना चाहें तो कैसे बन सकते हैं ?। सब लोग मौन पकड़ कर चुपचाप बैठ रहे। तब राजा ने कहा—क्या मेरे शहर में कोई भी नीति से व्यापार करनेवाला नहीं है ?। इतने में एक प्रामाणिक मनुष्य ने कहा कि—राजन् ! 'पाप जाने आप, और मा जाने बाप' इस लोकोक्ति के अनुसार यहाँ उपस्थित सभी साहूकार अन्यायप्रिय मालूम पड़ते है। लेकिन इस शहर में 'लल्लणसेठ' कभी अनीति का व्यापार नहीं करता, किन्तु इस समय वह यहाँ हाजिर नहीं है।

इस बात को सुनकर राजा ने सेठ को बुलाने के लिये सवारी के सहित मंत्री को उसके घर पर भेजा। मंत्रीने सेठ के घरपर जाकर कहा—सेठजी चलिये, आपको राजा साहब बुलाते है, इसीलिये यह सवारी भेजी है। सेठ आनन्दित हो कपडा पहनकर चलने के लिये तैयार हुआ। मंत्री ने बग्घी में बैठने को कहा। तब सेठने जवाब दिया कि इसके घोडे मेरा दाना पानी नहीं खाते, अत एव इसमें मैं नहीं बैठ सकता, मै तो पैदल ही चलूंगा, ऐसा कहकर प्रधान के साथ सेठ पैदल

चलकर राजा के पास आया, और राजा को नमस्कार कर उचित स्थानपर बैठ गया।

राजा ने सेठ से कहा कि—तुम्हारे पास न्याय संपन्न विभव है, इससे खातमुहूर्त्त के लिये पाँचजाति के पाँच रत्न चाहिये। सेठ ने विनयपूर्वक हाथ जोडकर कहा कि—राजन्! नीति का द्रव्य अनीतिमार्ग में नहीं लग सकता। सेठ का वचन सुनते ही राजा सरोष हो बोला कि-तुम्हे रत्न देना पडेंगे? सेठ बोला—स्वामिन्! यह घरबार सब आपका ही है, आप चाहें जब ले सकते हैं। इतने में ज्योतिषियों ने कहा कि—हुजूर! यों लेना भी तो अन्याय हैं, क्योंकि जब तक सेठ प्रसन्न होकर अपने हाथ से न देवे, और वे जबरदस्ती लिये जाँय तो अन्याय नहीं तो और क्या है?। राजा ने कहा कि—इस बात में प्रमाण क्या है कि—राजद्रव्य अन्यायोपार्जित है?। ज्योतिषियों ने कहा—राजन्! इसकी परीक्षा करना यही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

राजा ने प्रधान को एक सेठ की, और एक अपनी सोनामोहर, निसान करके दी। प्रधान ने अपने नौकरों को बुलाकर कहा कि ये दो सोनामोहर दी जाती हैं, इस में से एक किसी पापी को और एक धर्मात्मा तपस्वी को

देना । दोनों नौकर एक एक सोनामोहर को लेकर गॉव के वाहर जुदे जुदे रास्ते होकर निकले। जिसके पास सेठ की सोनामोहर थी, वह रास्ते में जा रहा था कि इतने में तो सामने कोई मच्छीमार मिला, उसे देख कर विचारा कि इससे वढ़कर पापी कौन होगा ?। क्योंकि यह प्रातःकाल उठकर जलाशय में रहनेवाली निरपराध मच्छियों को पकड़कर मारता है। अत एव यह सोनामोहर इसे ही दे दूँ, ऐसा विचार कर के सोनामोहर उस मच्छीमार को दे दी ।

मच्छीमार को सोनामोहर प्रथम ही प्राप्त हुई है; इससे उसने विचारा कि इसको कहाॅ रक्खूँ, क्योंकि वस्त्र में तो मेरे पास एक लंगोट ही है, इसालिये इसमें वॉधना तो ठीक नहीं । वहुत विचार करने पर अन्त में उसको अपने मुंह में रख ली । आगे चलते ज्योंही उस न्यायोपार्जित सोनामोहर का अश थूंक के साथ पेट में गया कि मच्छीमार की विचारश्रेणी वदल गई । मच्छीमार मनही मन में विचार करने लगा कि—अहो ! यह किसी धर्मात्माने मुझको धर्म जानकर दी है, इसके कम से कम पन्द्रह रुपये आवेंगे किन्तु इन मछलियों के तो दो चार आने मुश्किल से मिलेंगे, हाल मछलियॉ मरी

नहीं हैं, तो इतना पुण्य दाता को ही हो। ऐसा समझकर मच्छीमार जलाशय में मछलियों को छोड़ आया, और बाजार में आकर सोनामोहर के पन्द्रह रुपया लिये, उसमें से एक रुपया का ज्वार, बाजरी वगैरह धान्य लेकर घर आया।

इसे देखकर लड़के और स्त्री विचार में पड़े, देखो निरन्तर यह बारह बजे घर आता था और थोड़ा सा धान्य लाता था, आज तो विकसित-वदन हो बहुत धान्य लेकर जल्दी आया है। इस प्रकार मनमें ही विचार कर उस धान्य को सबने कच्चा ही फाकना शुरू कर दिया, उसका असर होते ही स्त्री ने कहा कि—आज इतना धान्य कहाँ से लाये?

मच्छीमार ने कहा कि—एक धर्मात्मा ने मुझ को सोनामोहर विना मांगे ही दी थी उसको बटा-कर एक रुपये का तो धान्य लाया हूँ, और चौदह रुपये मेरे पास हैं। उनको देख कर लड़के और स्त्री ने कहा कि—अब दो महिना की खरची तो अपने पास मौजूदा है, तो रात्री में तालाव पर जाना, और निरपराधी जन्तुओं का नाश करना यह नीच-कर्म करना ठीक नहीं है। इससे तो मजूरी करना सर्वोत्तम है। सभीने ऐसा विचार किया और मच्छी-

मारों का मुहल्ला छोड़ कर साहूकारों के पड़ोस में जा वसे। इस तरह यावज्जीवन पर्यन्त नीचकर्म से विरक्त हो आनन्द पूर्वक मजूरी से अपना निर्वाह करने लगे।

इसी तरह दूसरा मनुष्य राजा की सोनामोहर लेकर एक ध्यानस्थ योगी के पास आया और उसे धर्मात्मा तपस्वी जानकर मोहर उसके सामने रख दी और किसी वृक्ष के नीचे वैठकर उसकी व्यवस्था देखने लगा।

योगीजीने ध्यान समाप्त कर देखा तो सामने मोहर पड़ी है उसको देखते ही सोचा कि–" मैं ने किसी से याचना नहीं की, याचना करने से क्या कोई सोनामोहर भेंट करता है ?, शिव ! शिव ! ! चार आना भी मिलना मुसकिल है। यह तो परमेश्वर ने ही भेजी है, क्योंकि मै ने ध्यान के द्वारा जगत का तो स्वरूप देख लिया। परन्तु अनुभवद्वारा स्त्रीभोग का साक्षात्कार नहीं किया, अतएव ईश्वर ने कृपाकर यह भेंट दी है। " इत्यादि अनर्थोत्पादक विचार योगी के हृदय में उभड आए। वस योगी ने अन्यायोपार्जित सोनामोहर के प्रभाव से कुकर्मवश चालीस वर्ष का योगाभ्यास गङ्गा के

प्रवाह में बहा दिया, क्योंकि स्त्रीसमागम से योग नहीं रह सकता। कहा भी है कि–

"आरंभे नत्थि दया, महिलासंगेण नासई बंभं।
संकाए सम्मत्तं, अत्थग्गाहेण पव्वज्जं" ॥ १ ॥

भावार्थ–आरंभ करने में दया नहीं है, स्त्रीसमागम से ब्रह्मचर्ययोग, संशय रखने से सम्यक्त्व और परिग्रह (द्रव्य) ग्रहण करने से संयमयोग का नाश होता है।

इस प्रकार नीतिसंपन्न द्रव्य से मच्छीमार का सुधार और अनीतिसंपन्न द्रव्य से योगी के संयमयोग का नाश ये दोनों बातें राजा के पास सभा में जाहिर की गई, उनको सुनकर राजा समझ गया कि–वास्तव में नीतिमान् पुरुष निर्भय रहते हैं और अनीतिमान् सर्वत्र शङ्कित रहते हैं, तथा नीतिमान् पुरुषों के पास लक्ष्मी स्वयमेव चली जाती है। कहा भी है कि–

"निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाण्डजाः।
शुभकर्माणमायान्ति, विवशाः सर्व संपदः" ॥१॥

---

१ आरंभे नास्ति दया, महिलासङ्गेन नाशयति ब्रह्म।
शङ्कया सम्यक्त्वं, अर्थग्राहेण प्रव्रज्याम् ॥ १ ॥

भावार्थ–जिसप्रकार मंडूक (देड़का) कूप, और पक्षिसमूह जलपूर्ण सरोवर के पास स्वयमेव जाते हैं, उसी प्रकार नीतिमान् मनुष्य के पास शुभ कर्म से प्रेरित हो सर्वसंपत्तियाँ स्वयमेव चली जाति हैं।

अतएव न्यायपूर्वक द्रव्य उपार्जन करना यह गृहस्थधर्म का प्रथम कारण और मार्गानुसारी का प्रथम गुण है। इसलिये शुद्धान्तःकरण (ईमानदारी) के साथ जिस तरह हो सके न्याय पूर्वक ही द्रव्य पैदा करना चाहिये, जिससे कि उभयलोक में सुख प्राप्त हो।

२–शिष्टाचारप्रशंसक—अर्थात् भव्य पुरुष को शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करनेवाला होना चाहिये। क्योंकि शिष्टाचार प्रशंसक मनुष्य किसी दिन उत्तम आचार को अवश्य प्राप्त कर सकता है। व्रती, ज्ञानी और वृद्ध पुरुषों की सेवा से जिनने शिक्षा प्राप्त की हैं वे ' शिष्ट, ' और शिष्टों का जो आचार वह ' शिष्टाचार ' कहा जाता है। अथवा लोकापवाद से डरना, अनाथ प्राणियों का उद्धार करने में आदर रखना, कृतज्ञता और दाक्षिण्यता आचरण करना, उसको भी शिष्टाचार (सदाचार)

कहते हैं । सत्पुरुषों के आचार की प्रशंसा कवि इस प्रकार करते हैं–

" विपद्युच्चैः स्थैर्यं पदमनुविधेयं च महतां,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ? " ॥१॥

भावार्थ—विपत्ति समय में ऊंचे प्रकार की स्थिरता रखना, महापुरुषों के मार्गका अनुकरण करना, न्याययुक्त वृत्ति को प्रियकर समझना, प्राणावसान में भी अकार्य नहीं करना, दुर्जनों से प्रार्थना, और अल्पधनी मित्र से याचना नहीं करना, इस प्रकार असिधारा के समान दुर्घट सत्पुरुषों का व्रत किस ने कहा ?, अर्थात् सत्यवक्ता और तत्त्ववेत्ताओं ने प्रकाशित किया है, अत एव मनुष्यों को शिष्टाचार प्रशंसक अवश्य बनना चाहिये ।

३–" कुलशीलसमैः सार्धं, कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः । " जिनका कुल शील समान हो और भिन्न-गोत्र हो उनके साथ विवाह करना । कुल–पिता, पितामहादि पूर्ववंश, और शील–मद्य, मांस निशि-भोजन आदि का त्याग ।

पुर्वोक्त कुल और शील समान होय तो स्त्री पुरुषों को धर्मसाधन में अनुकूलता होती है, परन्तु जो शील की समानता न हो तो नित्य कलह होने की संभावना है। उत्तमकुल की कन्या लघुकुलवाले पुरुष को दबाया करती है, और नित्य धमकी दिया करती है कि मैं पीहर चली जाऊँगी। अगर नीच-कुल की कन्या हुई तो पतिव्रतादि धर्म में बाधा पड़ने का भय रहता है। इसी तरह शील में भिन्नता होने से प्रत्यक्ष धर्मसाधन में हानि दीख पड़ती है, क्योंकि एक तो मद्यपान मांसाहार अथवा रात्रि-भोजन करनेवाला है और दूसरे को उसपर अप्रीति है, ऐसी दशा में परस्पर प्रेमभाव कहाँ से बढ़ सकता और सांसारिक सुख का आनन्द कहाँ से आ सकता है ?। अतएव समान कुल और शील की परमावश्यकता है, इसी से दंपतिप्रेम आभिवर्द्धित हो सकता है।

वर्त्तमान समय में एक धर्म के दो समुदाय देख पडते हैं, जिनमें केवल क्रियाकाण्ड का ही भेद है, उन में कन्या व्यवहार (संबन्ध) होता है किन्तु बाद में धर्म विरुद्धता के कारण पति पत्नी के बीच में जीवित पर्यन्त वैर विरोध हुआ करता

है जिससे वे परस्पर सांसारिक सुख भी भले प्रकार नहीं देख सकते, तो फिर कुल शील असमान हो, उनकी तो बात ही क्या कहना है ?। क्योंकि ऐसे संबन्ध में तो प्रत्यक्ष प्रेमाऽभाव दृष्टिगोचर होता है।

भिन्न गोत्रवालों के साथ में विवाह करने का तात्पर्य यह है कि–एक पुरुष का वंश 'गोत्र', और उसमें उत्पन्न होने वाले 'गोत्रज' कहलाते हैं। गोत्रज के साथ में विवाहित होने से लोक विरुद्धता रूप भारी दोष लगता है। क्यों कि जो मर्यादा चली आती है वह अनेकवार पुरुषों को अनर्थ प्रवृत्ति से रोकती है। यदि गोत्रज में विवाह करने की मर्यादा चलाई जाय तो बहिन भाई भी परस्पर बिवाह करने लग जाँय ? और यवनव्यवहार आर्यलोगों में भी प्रगट हो जाय, जिससे अनेक आपत्तियों के आ पड़ने की संभावना है। अत एव शास्त्रकारों ने भिन्नगोत्रज के साथ में विवाह करना उत्तम बताया है ! मर्यादायुक्त विवाह से शुद्ध स्त्री का लाभ होता है और उसका फल सुजातपुत्रादिक की उत्पत्ति होने से चित्त को शान्ति मिलती है। शुद्धविवाह से संसार में प्रशंसा और देव,

अतिथि, आदि की भक्ती तथा कूटुम्ब परिवार का मान भले प्रकार किया जा सकता है, कुलीन स्त्रियाँ अपने कुल शील की और ध्यान कर मानासिक विकार होनेपर भी अकार्य सेवन नहीं करती है। परन्तु मनुष्यों को चाहिये कि–समस्त गृहव्यवहार स्त्रियों के आधीन रक्खें १, द्रव्य अपने अधीन रखकर खर्च से अधिक स्त्रियों को न दें २, स्त्रियों को अघटित स्वतन्त्रता में प्रवृत्त न होने दें किन्तु कवजे में रक्खें ३, और स्वयं परस्त्रियों को भगिनी अथवा मातृसमान समझें ४, इन चार हेतुओ को लक्ष्य में रखने से पति पत्नी के वीच में स्नेहभाव का अभाव नहीं हो सकता। अतएव समानकुल शील और भिन्नगोत्रवालों के साथ विवाह संबंध करनेवाला पुरुष सुख पूर्वक जीवन व्यतीत करता है।

" पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन्।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ॥२॥"

भावार्थ–४ पापभीरु–प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अपायों (कष्टों) के कारणभूत पापकर्म से डरनेवाला पुरुष गुणी वनता है। चोरी, परदारागमन, द्यूत आदि प्रत्यक्ष कष्ट के कारण हैं, क्योंकि इनसे व्यवहार में राजकृत अनेक विडम्बना सहन करना

पड़ती हैं । मद्य मांसादि अपेय, अभक्ष्य पदार्थ प्रत्यक्ष कष्ट के कारण हैं, और इनके सेवन से भवान्तर में नरकादि अशुभ गतियों में नाना दुःख प्राप्त होते हैं ।

५–प्रसिद्धं च देशाचारं समाचरन्–अर्थात् प्रसिद्ध देशाचार का आचरण करना । यानी उत्तम प्रकार का वहुत काल से चला आया जो भोजन वस्त्र आदि का व्यवहार उसके विरुद्ध नहीं चलना चाहिये, क्योंकि देशाचार के विरुद्ध चलने से देस-निवासी लोगों के साथ विरोध वढ़ता है, और विरोध वढ़ने से चित्त की स्वस्थता ठीक नहीं रहती, जिससे धार्मिक साधन में चित्त की स्थिरता नहीं रहती। इसीसे कहा जाता है कि–देशाचार का पालन करने में दत्तचित्त रहनेवाला पुरुष ही सद्गुणी वन सकता है।

६–“ अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ।

अर्थात् नीच से लेकर उत्तम मनुष्य पर्यन्त किसी की भी निन्दा न करना चाहिये, क्योंकि निन्दा करनेवाला मनुष्य संसार में निन्दक के नाम से प्रख्यात होता है, और भारी कर्मवन्धन से भवान्तर में दुःखी होता है । सामान्य पुरुषों की

निन्दा से भी नरकादि कुगतियों की प्राप्ती-होती है तो उत्तम पुरुषों की निन्दा दुःखदायक हो इसमें कहना ही क्या है?। राजा, अमात्य, पुरोहित; आदि की निन्दा तो विलकुल त्याज्य ही है, ठीक ही है कि इनकी निन्दा करने से तो प्रत्यक्ष द्रव्यनाश ,प्राण-नाश और लोकविडम्बना होती देख पड़ती है, अतः किसी का अवर्णवाद न बोलना चाहिये, अगर निन्दा करने का ही अभ्यास हो तो अपने दुष्कृतो की निन्दा करना सर्वोत्तम और लाभदायक है।

" अनतिव्यक्तगुप्ते च, स्थाने सुप्रातिवेश्मिकः।
अनेकनिर्गमद्वार-विवर्जितनिकेतनः ॥ ३ ॥ "

भावार्थ-७-अनेक द्वारों से रहित घरवाला गृहस्थ सुखी रहता है। अनेक द्वारों के निषेध से परिमित द्वार वाले घर में रहने का निश्चय होता है, क्योंकि ऐसे घरों में निवास करने से चौरादि का भय नहीं रह सकता। यदि घर में अनेक द्वार हों तो दुष्ट-लोगों के उपद्रव होने की संभावना है, तथा अति-व्यक्त और अतिगुप्त भी न होना चाहिये। जो अतिव्यक्त घर होगा तो चोरों का उपद्रव होगा, यदि अतिगुप्त होगा तो घर की शोभा मारी

जायगी, और अग्नि वगैरह के उपद्रव से घर को नुकशान पहुँचेगा।

जहाँ सज्जन लोगों का पाड़ोस हो वहाँ रहना चाहिये,। सज्जनों के पाड़ोस में रहने से स्त्री पुत्रादिकों के आचार विचार सुधरते हैं। और धीरे धीरे वह मनुष्य आदर्श (सज्जन) की गिनती में आ जाता है। कनिष्ठ पाड़ोसियों की संगति से सन्तति के आचार विचार विगड़ जाते हैं और लोकनिन्दा का पात्र वनना पड़ता है। अत एव गृहस्थों के लिये अनतिव्यक्त, अगुप्त, उत्तम पाड़ोसवाला और अनेक द्वारों से राहित घर श्रेष्ठ और सुखकारक होता है।

" कृतसङ्गः सदाचारै–र्मातापित्रोश्च पूजकः।
त्यजन्नुपप्लुतस्थान–मप्रवृत्तश्च गर्हिते॥ ४॥"

भावार्थ—८ उत्तम आचारवाले सत्पुरुषों का समागम करना। अर्थात् सामान्यतः जुआरी, धूर्त्त, दुराचारी, भट्ट, याचक, भांड, नट, और धोवी, माली, कुंभार प्रमुख की संगति धार्मिष्ठ पुरुषों को अहित कारक है। आजकल कईएक वेष-धारी साधु और साध्वियाँ नीचजाति के मनुष्यों को साथ में रखते हैं, जिससे उसका अन्तिम परिणाम भयङ्कर निवड़ता है। इसी प्रकार गृहस्थों को भी जव

अधम मनुष्यों की संगति करना मना है तो फिर साधुओं के लिये तो कहना ही क्या है ?। नीच पुरुषों की सोवत करनेवाले और साधुओं का अनादर असत्कार करनेवाले गृहस्थ भी पाप के पोषक है, इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि सत्सग करनेवाला पुरुष धर्म के योग्य होता है।

९ 'मातापित्रोश्च पूजकः'—माता पिताओं की पूजा करनेवाला गृहस्थ धर्म के योग्य है। अर्थात् संसार में माता पिताओं का उपकार सब से अधिक है, अतएव उनकी सेवा तन, मन और धन से करना चाहिये। क्योंकि दश उपाध्याय की अपेक्षा एक आचार्य, सौ आचार्य की अपेक्षा एक पिता, और हजार पिता की अपेक्षा एक माता पूज्य है। इस-लिये हरएक कार्य में माता पिताओं की रुचि के अनुसार वर्त्तनेवाला पुरुष सद्गुणी बन सकता है।

१० 'त्यजन्नुपप्लुतस्थानम्'—उपद्रववाले स्थान का त्याग करनेवाला पुरुष धर्म के लायक होता है। इससे स्वचक्रादि परचक्रादि उपद्रव, तथा दुर्भिक्ष, प्लेग, मारी आदि और जनविरोध आदि से रहित स्थान में रहना चाहिये। उपद्रवयुक्त स्थान में रहने

से अकालमृत्यु, धर्म और अर्थ का नाश होने की संभावना है, और धर्मसाधन भी बनना कठिन है।

११ 'अप्रवृत्तिश्च गर्हिते'—अर्थात् निन्दनीय कर्म में प्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। देश, जाति और कुल की अपेक्षा से निन्दनीय कर्म तीन प्रकार का होता है—जैसे सौवीरदेशमें कृषिकर्म, लाट में मद्यपान निन्दनीय है। जाति की अपेक्षा से ब्राह्मणोंको सुरापान, तिल लवणाऽऽदि का व्यापार, और कुल की अपेक्षा से चौलुक्य वंशी राजाओं को मद्यपानादि निन्दनीय है। इत्यादि निन्दनीय कार्य करनेवाले पुरुषों के धर्मकार्य हास्याऽऽस्पद होते हैं, अतएव ऐसे कार्यों में प्रवृत्ति करना अनुचित है।

"व्ययमायोचितं कुर्वन्, वेषं वित्तानुसारतः।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः, शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥५॥"

भावार्थ—१२ आवदानी के अनुसार खर्च करना, अधिक अथवा न्यून खर्च करने से व्यवहार में प्रामाणिकता नहीं समझी जाती। क्योंकि अधिक खर्चा करने से मनुष्य 'फूलणजी' की और न्यून खर्चा करने से 'मम्मण' की पंक्ति में गिना जाता है। अतएव कुटुम्बपोषण में, अपने उपयोग में

देवपूजा और आतिथि सत्कार आदि में आवदानी-प्रमाणे समयोचित द्रव्य व्यय करना चाहिये। शास्त्र-कारों ने द्रव्यव्यवस्था के विषय मे लिखा है कि–

"पाद्मायान्निधिं कुर्यात्, पादं वित्ताय घट्टयेत्।
धर्मोपभोगयोः पाद, पादं भर्त्तव्यपोषणे ॥ १ ॥"

भावार्थ–आवदानी का चतुर्थांश भंडार में रखना, चौथा भाग व्यापार में, चौथा भाग धर्म तथा उपभोग में, और चौथाभाग पोषणीय कुटुम्बवर्ग में लगाना चाहिये। अथवा—

'आयादर्धं नियुञ्जीत, धर्मे समधिकं पुनः।
शेषेण शेषं कुर्वीत, यत्नतस्तुच्छमैहिकम् ॥२॥"

भावार्थ–आवदानी से आधा भाग, अथवा आधेभाग से अधिक धर्म में लगाना चाहिये, और शेष द्रव्य से सांसारिक तुच्छ (विनाशी) कार्य करना चाहिये। यदि आवदानी के प्रमाण में धर्म न करे, किन्तु संचयशील बना रहे, तो वह पुरुष कृतघ्नी है, क्योंकि–जिस धर्म के प्रभाव से सुखी, धनी और मानी बनते हैं उस धर्म के निमित्त कुछ द्रव्य न खर्च किया जाय तो कृतघ्नीपन ही है। किसी कवि ने लिखा भी है कि—

हरण तो हो गये, परन्तु पीछे सीताजी होंगे या नहीं ?। कथा तो समाप्त हो गई परन्तु उस श्रोता की शंका का समाधान नहीं हो सका, तब उसने पुराणी से पूछा कि महाराज ! सब बात का तो खुलासा हुआ, किन्तु एक बात रह गई। पुराणी भ्रम में पड़ा कि क्या पत्रा फेर फार हो गया, या कोई अधिकार भूल गया अथवा हुआ क्या? जिससे श्रोता कहता हैं कि एक बात रह गई। आखिर पुराणी ने पूछा कि भाई ! कौनसी बात रह गई। श्रोताने कहा कि महाराज ! 'सीताजी हरण भया' ऐसा मैंने सुना था वह मिटकर पीछे सीताजी हुए या नहीं ?। पुराणी तो उसकी बात सुनकर हसने लगा और कहा कि अरे मूर्ख ! तुं इसका तात्पर्य नहीं समझा, इसका आशय यह है कि सीता को रावण उठा ले गया। परन्तु तुं समझता है वैसा कोई जंगली जानवर नहीं हुआ। इस बात को सुनकर श्रोता निःशंसय हो गया, यदि वह फिर पूछकर खुलाशा नहीं करता तो इस बिषय में दूसरों के साथ में तकरार किये विना नहीं रहता। इसीसे धर्मश्रवण में बुद्धि के आठ गुणों की आवश्यकता है। बुद्धि के आठगुण इस प्रकार हैं—

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहापोहार्थविज्ञानं, तत्वज्ञानं च धीगुणाः ॥ १ ॥

भावार्थ–(शुश्रूषा) सुनने की इच्छा १ (श्रवणं) सुनना २ (ग्रहण) सुने हुए अर्थ को धारण करना ३ (धारणं) धारण किये हुए अर्थ को नहीं भूलना ४ (ऊहा) जाने हुए अर्थ को अवलम्बन-कर उसके समान अन्य विषय मे व्याप्ति के द्वारा तर्क करना ५ (अपोह) अनुभव और युक्तियो से विरुद्ध हिंसादि अनर्थजनक कार्यों से अलग होना ६ अथवा सामान्य ज्ञान सो 'ऊहा' और विशेष-ज्ञान सो 'अपोह' कहाता है। (अर्थविज्ञानं) तर्क वितर्क के बल से मोह, सन्देह तथा विपर्यास रहित वस्तु की पहिचान करना ७ (तत्वज्ञानं) अमुक वस्तु इसी प्रकार है, ऐसा निश्चय करना; ये आठ बुद्धि के गुण है।

अष्टगुणों से जिसकी बुद्धि प्रौढ़भाव को प्राप्त हुई है वह कदापि अकल्याणकारी नहीं बन सकता; इसीसे बुद्धिगुण पूर्वक धर्मश्रवण करनेवाला पुरुष धर्म के लायक कहा गया है। यहाँ धर्मश्रवण विशेष गुणों का दायक है, बुद्धि के गुणों में जो 'श्रवण' गुण है वह श्रवणमात्र अर्थ का बोधक है, इससे

एकता का शंसय करना उचित नहीं है। धर्मश्रवण करने वालों को अनेक गुण प्राप्त होते हैं। कहा भी है कि—" यथावस्थित सुभाषितवाला मन दुःख को नष्ट करता है, खेद रूप दावानल से संतप्त पुरुषों को शान्त वनाता है, मूर्खों को बोध देता है और व्याकुलता को मिटाता है; अर्थात् सुन्दर धर्मश्रवण ऊत्तमोत्तम वस्तुओं को देनेवाला होता है। अतएव अनेक सद्गुणों की प्राप्ति का हेतुभूत धर्मश्रवण करना चाहिये, जिससे उभय लोक में सुख प्राप्त हो।

" अजीर्णे भोजनत्यागी, काले भोक्ता च सात्म्यतः
अन्योन्याप्रातिबन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयेत् ॥६॥"

भावार्थ—१५ अजीर्ण में भोजन छोड़नेवाला पुरुष सुखी रहता है और सुखी मनुष्य धर्म की साधना भले प्रकार कर सकता है। इसीसे व्यवहारनय का आश्रय लेकर कई एक लोग कहते हैं कि—' शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ' वस्तुस्थिति के अनुसार तो ऐसा कहना उचित है कि—' शरीरमाद्यं खलु पाप साधनम् ' अर्थात् शरीर प्रथम पाप का कारण है। जिनके शरीर नहीं है, उनके पाप का भी बन्ध नहीं होता। सिद्धभगवान्

अशरीरी होने से पापबन्ध रहित है, अतएव शरीर पापका कारण और पाप शरीर का कारण है।

जहाँ शरीर का अभाव है वहाँ पापका अभाव है और जहाँ पाप का अभाव है वहाँ शरीर का अभाव है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक व्याप्ति है, तो भी व्यवहारदृष्टि का अवलम्बन कर शरीर को प्रथम धर्मसाधन माना है। इसीलिये अजीर्ण में भोजन का त्याग बताया गया है। वैद्क शास्त्रों मे लिखा भी है कि—' अजीर्णप्रभावाः रोगाः ' समस्त रोगों की उत्पत्ति अजीर्ण से होती है। यदि कोई ऐसा कहेगा कि—' धातुक्षयप्रभवा. रोगा ' ऐसा भी शास्त्रों में लिखा देख पड़ता है तो इनमें प्रमाणिकरूपसे कौनसा वचन मान्य है ? इसके उत्तर में जानना चाहिये कि धातु क्षय भी अजर्णि से ही होता है। जो खाये हुए अन्नादि की परिपाक दशा पूर्णरूप से हो जाय तो धातुक्षय नहीं हो सकता, चाहे जितना परिश्रम किया जाय परन्तु शरीर निर्बलता अंशमात्र नहीं हो सकती। जो अजीर्ण होने पर भी लालच से खाते हैं वे अपने सुखमय जीवन को नष्ट करते हैं। अजीर्ण की परीक्षा करने के लिये शास्त्रों में इस प्रकार लिखा है कि—

मलवातयोर्विगन्धो, विड्भेदो गात्रगौरवमरुच्यम् ।
अविशुद्धश्चोद्गारः, षडजीर्णव्यक्तलिङ्गानि ॥ १ ॥

भावार्थ—मल और वायु में दुर्गन्धि हो जाना, दस्त (पाखाने) में नित्य के नियम से कुछ फेर-फार हो जाना, शरीर में आलश आना, पेटका फूलना, भोजनपर रुचि कम होना और गन्धीलि डकार आना; अजीर्ण होने के ये छे चिन्ह स्पष्ट होते हैं ।

उक्त छे कारणों में से यदि एक भी कारण मालूम पड़े तो भोजन अवश्य छोड़ देना चाहिये, क्योंकि ऐसे अवसर में भोजन छोड़ने से जठराग्नि के विकार भस्म होते हैं। धर्मशास्त्र भी पखवाड़े में एक उपवास करने की सूचना करते हैं । यदि भोजनादि व्यवस्था नियम से की जाय तो प्रायः प्रकृति विकृति के कारण रोग होना असंभव है । कर्मजन्य रोगों को मिटाने के लिये तो कोई उपाय ही नहीं है । वर्त्तमान समय में कईएक मनुष्य उपवास की जगह जुलाब लेना ठीक समझते हैं; लेकिन यथार्थ विचार किया जाय तो जुलाब लेना उभयलोक में हानिकारक है। जुलाब लेने से प्रकृति में फेरफार होता है, किसी किसी वख्त तो वायु प्रकोप

हो जाने से जुलाव से भारी हानि पहुंचती है, और शरीर स्थित क्रमी का नाश होता है, इत्यादि कारणों से जुलाव उभयलोक में दुःखदायक है।

उपवास पखवाड़े मे खाये हुए अन्न को पचाता है, मन को निर्मल रखता है, विकारों को मन्द करता है, अन्नपर रुचि वढ़ाता है और रोगों का नाश करता है। अतएव जुलाव की अपेक्षा उपवास करना उत्तम है। अजीर्ण न हो तौभी थोड़ा भोजन करना अच्छा है। क्योंकि यथाग्नि खाने से भोजन रस वीर्य का उत्पादक होता है। 'यो मित भुङ्क्ते स वहु भुङ्क्ते' अर्थात् जो थोड़ा खाता है वह वहुत खाता है, इसलिये अजीर्ण में भोजन नहीं करनेवाला सुखी रहकर गुणवान् वनता है।

१६—काले भोक्ता च सात्म्यतः—अर्थात् प्रकृति के अनुकूल यथासमय सात्म्य भोजन करनेवाला पुरुष निरोगी रहकर गुणी और धर्मात्मा वनता है। जो पान, आहार आदि प्रकृति के अनुकूल सुख के लिये वनाया जाता है वह 'सात्म्य' कहलाता है। वलवान् पुरुषों के लिये तो सव पथ्य ही है, परन्तु योग्य रीत से योग्य समय में प्रकृतियोग्य पदार्थों का सेवन किया जाय तो शरीर की स्वास्थ्यता सचवा

सकती है और शरीरस्वस्थता से धर्मसाधन तथा सद्गुणोपार्जन में किसी तरह की वाधा नहीं पड़ सकती।

१७–'अन्योन्याप्रतिवन्धेन, त्रिवर्गमपि साधयेत्।' अर्थात् परस्पर विरोधरहितपने धर्म, अर्थ और कामरूप–त्रिवर्ग की साधना करनेवाला पुरुष उत्तम योग्यता प्राप्त कर सकता है। जिस पुरुष के दिन त्रिवर्गशून्य व्यतीत होते हैं वह लुहार की धमनी की तरह गमनागमन करता हुआ भी जीता नहीं है अर्थात् उसे जीवन्मृत अथवा पशुतुल्य समझना चाहिये।

धर्म पुण्यलक्षण अथवा संज्ञानरूप है, पुण्यलक्षण धर्म संज्ञानलक्षणधर्म का कारण है, कार्य को उत्पन्न कर कारण चाहे पृथक हो जाय, परन्तु धर्म सात कुल को पवित्र करता है। कहा भी कि—

"धर्मः श्रुतोऽपि दृष्टो वा, कृतो वा कारितोऽपि वा।
अनुमोदितोऽपि राजेन्द्र !, पूनात्याऽऽसप्तमं कुलम् १।"

तात्पर्य–हे राजेन्द्र ! सुना हुआ, देखा हुआ, किया हुआ, कराया हुआ और अनुमोदन किया हुआ धर्म, सात कुल को पवित्र बनाता है। धर्म धन,

काम और मुक्ति का देनेवाला है, ऐसी कोइ वस्तु नहीं है जो धर्म के प्रभाव से प्राप्त न हो सके; अतएव तीनों वर्ग में धर्म अग्रगण्य (मुख्य) समझा जाता है।

यहाँ पर यह संशय होना संभव है कि वारंवार त्रिवर्ग का ही नाम आता है किन्तु चौथा वर्ग मोक्ष या निर्वाण का तो नाम ही नहीं लिया जाता तो क्या आप मोक्ष को नहीं मानते ?।

इसके समाधान में समझना चाहिये कि-मोक्ष निर्वाण अथवा मुक्ति आदि नाम से प्रख्यात चतुर्थ वर्ग के साधक मुनिवर हैं, और यहाँ प्रस्तुत विषय तो गृहस्थों को धर्म की योग्यता प्राप्त करने का है, इसीसे यहाँ पर मोक्ष का नाम दृष्टिपथ नहीं होता। जैन सिद्धान्तो में जितनी क्रिया प्रतिपादन की गई है वह सब मोक्षसाधक है, स्वर्गादिक तो उस के अवान्तर फल हैं। जैसे कोई मनुष्य किसी शहर का उद्देश्य करके रवाने हुआ, परन्तु वह इच्छित शहर में नहीं पहुंचनेसे मार्ग स्थित गाँव में रह गया। इसी प्रकार मोक्षसाधक मनुष्य भी मार्गभूत स्वर्गादि गतियों में जाता है। जिनलोगों के सिद्धान्त में मोक्षसाधक अनुष्टान नहीं है उनको अवश्य नास्तिक

समझना चाहिये । मोक्ष का कारण सम्यग्-ज्ञान, दर्शन और चारित्र है, इनको प्राप्त करने के लिये प्रथम योग्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है । योग्यता का कारणभूत धर्म, अर्थ और काम रूप त्रिवर्ग की साधना है, अतएव गृहस्थों के लिये त्रिवर्ग के साथ मोक्षशब्द रखने की कोई आवश्यकता नहीं है । अब परस्पर अविरोधपने त्रिवर्ग को साधन करने की मर्यादा दिखाई जाती है—

जो अहर्निश धर्म और अर्थ को छोड़कर काम-पुरुषार्थ की ही साधना करने में लगे रहते हैं वे बनगज के समान पराधीन हो दुःखी होते हैं । जैसे वनगज स्वजीवित को हार कर मरण दशा को प्राप्त होता है, उसी प्रकार कामाऽऽसक्त मनुष्य का भी धर्म, धन और शरीर नष्ट हो जाता है, इसलिये केवल कामसेवा करना अनुचित है ।

जो मनुष्य धर्म तथा काम का अनादर कर केवल अर्थ-सेवा की अभिलाषा रखते हैं, वे सिंह के समान पाप के भागी होते हैं । सिंह हस्ति प्रमुख पशुओं को मारकर स्वयं थोडा खाता है और अवशेष दूसरों के लिये छोड़ देता है । इसी तरह अर्थ-साधक पुरुष भी अठारह पापस्थानक सेवन कर

वित्तोपार्जन करते हैं, उसको स्वयं अल्प खाकर शेष संबन्धियों के लिये छोड़ते हैं, किन्तु स्वयं उस वित्तोपार्जन से दुर्गतियों के पात्र बनते हैं। अत एव केवल अर्थसेवा करना भी अनुचित है। इसी प्रकार अर्थ और काम को छोडकर केवल धर्मसेवा करने से भी गृहस्थधर्म का अभाव होता है, क्यों कि केवल धर्मसेवा करना मुमुक्षुजनों (संसारत्यागियों) का काम है। यहाँ पर तो गृहस्थों का अधिकार है। इससे केवल धर्मसेवा करना गृहस्थों के लिये अनुचित है।

जो लोग धर्म को छोडकर अर्थ और काम की सेवा करते हैं वे बीज खा जाने वाले 'कणबी' के समान पश्चात्ताप और दुःख के पात्र बनते हैं। किसी कणबी ने अत्यन्त परिश्रम से धान्य (बीज) संग्रह कर उस को खा खुटाया परन्तु वह वर्षा समय में खेत में बीज नहीं बो सका, इससे धान्य का अभाव हो गया और धान्याऽभाव से नाना दुःखों की नोबत बजने लगी। उसी प्रकार धर्म के विना अर्थ और काम की सेवा करनेवालों की दशा होती है। क्यों कि धर्म अर्थ और काम का बीज है, अर्थात् धर्म के प्रभाव से ही अर्थ और काम की प्राप्ति

होती है। अत एव धर्म की साधना किये विना इतर पुरुषार्थों की साधना करनेवाला मनुष्य कणवी के समान दुःखी होता है।

यदि कहा जाय कि धर्म और काम की सेवा करना तो ठीक है, लेकिन अर्थ अनेक अनर्थों का उत्पादक है, इस लिये अर्थ की सेवा करना अनुचित है ?, धर्म से परभव का सुधार और काम से सांसारिक सुखों का अनुभव होता है।

इसके समाधान में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि—गृहस्थावास में अर्थ (धन) के सिवाय धर्म और काम की सेवा यथार्थ रूप से नहीं बन सकती, क्यों कि धनोपार्जन नहीं करने से ऋणी होना पडता है और ऋणी मनुष्य चिंतायुक्त होने से देव गुरु की भक्ति नहीं कर सकता, तथा चिन्तायुक्त मनुष्य से सांसारिक सुखों का भी अनुभव नहीं हो सकता। अत एव धर्म और कामसेवा के साथ साथ अर्थ सेवा की भी अत्यन्त आवश्यकता है।

यदि कोई यह कहेगा कि धर्म और अर्थ की सेवा करनेवाला ऋणी नहीं होता। अतः धर्म तथा अर्थ की सेवा करना चाहिये। परन्तु दुर्गति दायक

काम की सेवा क्यों की जाय ? काम से तो कोड़ों क्रोश दूर ही रहना उत्तम है ? ।

यह बात प्रशस्य है, तथापि यहाँ गृहस्थधर्म का विषय है, इसलिये काम के अभाव मे गृहस्थाऽभावरूप आपत्ति आ पडने की संभावना है । इस वास्ते तीनों वर्ग की योग्य रीति से सेवा करनेवाला मनुष्य धर्म के लायक होता है और वही मनुष्य सद्गुणी बनकर आत्मसुधार, और समाजसुधार भलेप्रकार कर सकता है ।

पाठकगण ! धर्म, अर्थ और काम में बाधा पडने की संभावना हो तो पूर्व पूर्व को बाधा न होने देना चाहिये । कदाचित् कर्मवश से चालीस वर्ष की अवस्था में स्त्री का मृत्यु हो जाय तो फिरसे विवाह करना व्यवहार विरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है, इससे ऐसे अवसर में चतुर्थव्रत धारण कर धर्म और अर्थ की सुरक्षा करना चाहिये। यदि स्त्री धन दोनों का नाश होने का समय प्राप्त हुआ तो केवल धर्म की साधना करने में दत्तचित्त रहना चाहिये । क्यों कि 'धर्मवित्तास्तु साधवः' सज्जन पुरुष धर्मरूप द्रव्यवाले होते हैं ।

धर्म के प्रभाव से धन चाहनेवालों को धन, कामार्थियों को काम, सौभाग्य के चाहनेवालों को सौभाग्य, पुत्रवांछकों को पुत्र, और राज्य के अभिलाषियों को राज्य प्राप्त होता है। अर्थात् धर्मात्मा पुरुष जो कुछ भी चाहे उसे उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। स्वर्ग और मोक्ष भी जब धर्म के प्रभाव से मिल सकता है तब और वस्तुओं की प्राप्ति हो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?। अत एव गृहस्थों को उचित है कि धर्म के समय में धर्म, धन के समय में धनोपार्जन, और काम सेवन के समय में काम इस प्रकार यथाक्रम और यथासमय में सेवन करें, परन्तु परस्पर बाधा हो वैसा करना ठीक नहीं।

" यथावदतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपत्तिकृत्।
सदाऽनभिनिविष्टश्च, पक्षपाती गुणेषु च ॥७॥"

भावार्थ–१८–१९ अतिथि, साधु और दीन में यथायोग्य भक्ति करनेवाला गुणी बनने लायक होता है। जिन्हों ने तिथि और दीपोत्सवादि पर्व का त्याग किया है उन को अतिथि और दूसरों को अभ्यागत कहना चाहिये। 'साधुः सदाचाररतः' उत्तम पञ्च महाव्रतपालनरूप सदाचार में लीन रहते हैं वे 'साधु' और त्रिवर्ग को साधन करने में जो अस-

मर्थ हैं वे 'दीन' कहे जाते है । इन तीनों की उचितता पूर्वक भक्ति करना चाहिये, अन्यथा अधर्म होने की संभावना है, क्यों कि पात्र को कुपात्र और कुपात्र को पात्र की पंक्ति में गिनने से अधर्म की उत्पत्ति होती है। नीतिकारों का कहना है कि–

नीतिरूप कॉटा है उसके एक पलडे में औचित्य (उचितता)और दूसरे पलडे में क्रोड़गुण रक्खे जायँ तो उचिततावाला पलडा नीचा नमेगा। अर्थात् क्रोडगुण से भी उचितता अधिक है, अत एव उचितता प्रमाणे भक्ति करना उत्तम है ।

२० 'सदाऽनभिनिविष्टश्च '–निरन्तर आग्रह नहीं रखने वाला पुरुष गुणग्रहण करने योग्य होता है । आग्रही मनुष्य स्वमति कल्पना के अनुसार युक्तियों को खींचता है और अनाग्रही पुरुप सुयुक्तियों के अनुसार स्वमति (बुद्धि) को स्थापित करता है । जगत में सुयुक्तियों से कुयुक्ति अधिक है, कुयुक्तिसंपन्न मनुष्य अपरिमित हैं परन्तु सुयुक्तिसंपन्न तो विरले ही हैं। जहॉ आग्रह नहीं होता वहॉ सुयुक्तियों का आदर होता है। इसवास्ते गुणेच्छुओं को नित्य आग्रह रहित रहना चाहिये, जिससे सद्गुणों की प्राप्ति हो।

२१ ' पक्षपाती गुणेषु च '–गुणों में पक्षपात रखने वाला पुरुष उत्तम गुणोपार्जन कर सकता है अर्थात् सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य, स्थैर्य, प्रियभाषण और परोपकार आदि स्वपरहित कारक और आत्मसाधन में सहायक जो गुण हैं उनमें पक्षपात, उनकी वहुमान तथा उनकी प्रशंसा करना वह ' गुणपक्षपात ' कहा जाता है। गुणों का पक्षपात करनेवाले मनुष्यों को भवान्तर में मनोहर गुणों की प्राप्ती होती है। गुणद्वेषियों को किसी गुण की प्राप्ती नहीं होती, कईएक स्वात्मवैरी गुणवानों के गुणों पर द्वेषभाव रखते हैं और इसी से उन्हें अनर्थजनक अनेक कर्म बाँधना पडते हैं। अत एव किसी वख्त गुणद्वेषी न होना चाहिये, किन्तु समस्त जगज्जन्तुओं के गुणों की अनुमोदना (प्रशंसा) करना चाहिये।

" अदेशकालयोश्चर्यां, त्यजेज्जानन् बलाबलम्।
वृतस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ॥ ८ ॥ "

भावार्थ–२२ निषेध किये हुए देश और काल की मर्यादा का त्याग करनेवाला पुरुष गुणी बनने और गृहस्थधर्म के योग्य होता है। निषिद्ध देश में जाने से एक लाभ और अनेक हानियाँ हैं।

लाभ तो धनोपार्जन है और धर्म हानी, व्यवहार-निःशूकता तथा हृदयनिष्ठुरता आदि अनेक दुर्गुण प्राप्त हो जाते हैं। आर्य देश को छोड़कर अनार्य-भूमि में जानेवाले पुरुषों को प्रथम धार्मिक मनुष्यों का समागम नहीं होता। निरन्तर प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले अर्वाक्दर्शी और मांसाशी पुरुषों का समागम होता रहता है, जिससे नास्तिक बुद्धि, अथवा अधर्मश्रद्धा उत्पन्न होती है। गङ्गा का जल मिष्ट स्वादु और पवित्र माना जाता है परन्तु समुद्र में मिलनेपर वह खारा हो जाता है, इसी प्रकार विदेश के गमन समय में पुरुष धार्मिक, सरलस्व-भावी और दृढ मनवाला होता है, लेकिन धीरे धीरे विदेशी लोगों की संगत से उसके स्वभाव में मलि-नता आ जाती है।

कोई यह कहेगा कि सांसारिक कार्य के लिये जाने वाला पुरुष गंगाजल की दशा को प्राप्त हो सकता है परन्तु कोई दृढधर्मी जगत्मान्य मनुष्य आर्यधर्म के तत्त्वों का प्रचार करने के लिये जाय तो क्या हरकत है ?।

इसका उत्तर यह है कि सर्प मणि के समान जो पूर्ण (जानकार) हैं उनके वास्ते कोई प्रति-

बन्ध नहीं है, पूर्ण मनुष्य चाहे जहाँ जा सकता है। सर्प और मणि का एक ही स्थानमें जन्म तथा विनाश होता है अर्थात् साथ ही जन्म और विलय है परन्तु सर्प का विष मणि में और मणि का अमृत सर्प में नहीं आ सकता, क्यों कि दोनों अपने अपने विषय में पूर्ण हैं। इस प्रकार मनुष्य जो पूर्ण हो तो वह चाहे जिस देश में जा सकता है उसका बिगाड कहीं नहीं हो सकता, लेकिन अपूर्ण तो सर्वत्र अपूर्ण ही रहता है।

अपूर्ण का उत्साह क्षणिक और विचार विनश्वर होता है तथा उसके हृदय में धर्म वासना हलदी के रंग समान होती है। आर्य भूमि में हजारों प्राणी जंगली हैं उनको विदेशी प्रजा धन, स्त्री आदि का लालच देकर स्वधर्मी बना रही है। इसलिये उनको धर्मभ्रष्टता से उबारना हर एक आर्यधर्मी पुरुषों का काम है। अर्हन्नीति में विदेशगमन का निषेध किया है, उसका खास हेतु धर्महानी ही है। अत एव पूर्ण मनुष्य के विना अपूर्ण मनुष्यों को निषिद्ध देश में भूलकर भी न जाना चाहिये। बुद्धिमानों को निषिद्धकाल की मर्यादा का भी त्याग करना जरूरी है। रात्रि का समय कितने

एक पुरुषों के लिये बाहर फिरने का नहीं है। अर्थात् रात्रि में बाहर फिरने से कलङ्कित होने की और चौरादिक की शंका पडती है। चौमासा में प्रवास, या यात्रा भी न करना चाहिये। इस मर्यादा का उल्लंघन करने से अनेक उपद्रव और हिंसादिक की वृद्धि होती है। इससे निषिद्धदेश और काल की मर्यादा का त्याग करनेवाला मनुष्य सुखी होता है।

२३ 'जानन् बलाऽबलं' स्व पर का बल और अबल जानने वाला गृहस्थ धर्म के लायक है। बल की परीक्षा किये विना कार्य का प्रारंभ करना निष्फल है और जो बल तथा अबल का ज्ञानकर कार्य करते हैं उनका कार्य सफल होता है। बलवान् व्यायाम करे तो उसका शरीर पुष्ट होता है और निर्बल मनुष्य व्यायाम करेगा तो उसकी शरीरसंपत्ति का नाश होगा। क्योंकि–शरीरशक्ति के उपरान्त परिश्रम करने से शरीराऽवयवों को नुकसान पहुँचता है। अत एव बल के प्रमाण में कार्यारम्भ करना चाहिये, जिससे चित्तव्याकुलता न हो सके और स्वच्छ चित्त से सद्गुण प्राप्ति हो।

२४ व्रतस्थज्ञानवृद्धाना पूजक.–व्रती और ज्ञानवृद्ध पुरुषों की सेवा करनेवाला गुणी बनता है।

अनाचार त्याग और सदाचार का पालन करने में जो स्थित है वह 'व्रतस्थ' और जो हेय उपादेय वस्तुओं का निश्चय करनेवाले ज्ञान से संयुक्त हो वह 'ज्ञानवृद्ध' कहलाता है। इन दोनों की सेवा कल्पवृक्ष के समान महाफल को देनेवाली होती है व्रती पुरुषों की सेवा से व्रत का उदय, और ज्ञानवृद्धों की सेवा से वस्तुधर्म का परिचय होता है। इस लिये व्रती और ज्ञानवृद्धों को वन्दन करना, तथा उन के आनेपर (अभ्युत्थान) खडे होना, आदि बहुमान करना चाहिये।

२५ पोष्यपोषकः-पोषण करने योग्य माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र, आदि परिवार को योगक्षेम से अर्थात् अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त वस्तु की रक्षा करता हुआ पोषण करना चाहिये, जिससे कि लोकव्यवहार में बाधा न पडे। लोकव्यवहार की बाधा धर्मसाधन में विघ्नभूत है, अतएव पोषण करने के लायक को पोषण करने वाला मनुष्य सद्गुणी बनता है।

"दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः।
सलज्जः सदयः सौम्यः, परोपकृतिकर्मठः। ९।"

२६ दीर्घदर्शी—अर्थ और अनर्थ दोनों का विचार

करनेवाला मनुष्य दीर्घदर्शी कहा जाता है। दीर्घ विचार करनेवाला मनुष्य हरएक कार्य को विचार पूर्वक करता है, किन्तु सहसा नहीं करता। कहा भी है कि–

" सहसा विदधीत न क्रिया–
मविवेकः परमाऽऽपदां पदम्।
वृणते हि विमृश्य कारिणं,
गुणलुब्धा. स्वयमेव सपद ॥१॥ "

तात्पर्य–विना विचार किये किसी क्रिया को न करे, अविवेक पूर्वक की हुई क्रिया परम आपत्ति की स्थानभूत होती है। विचार पूर्वक कार्य करने-वालों को गुण मे लुब्ध हुई अर्थात् गुणाभिलापिणी सपत्तियाँ स्वयमेव वरण करती है, अर्थात् उसके समीप में चली आती है।

दीर्घदर्शी पुरुषों में भूत भविष्यत् काल का विचार करने की शक्ति होती है। अर्थात् अमुक कार्य करने से हानि और अमुक कार्य करने से लाभ होना सभव है इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य सफलकार्य हो सुखी और गुणी होता है।

२७ विशेषज्ञ —वस्तु अवस्तु, कृत्य, अकृत्य,

आत्मा और पर में क्या अन्तर है ? उसको जाननेवाला। अथवा आत्मा के गुण व दोष को पहचाननेवाला 'विशेषज्ञ' कहलाता है। जिस मनुष्य में अपने वरताव और गुण दोष पर दृष्टि देने की शक्ति नहीं है वह पशुसमान ही है, उसे आगे वढ़ने की आशा रखना आकाशकुसुमवत् असंभव है। जो गुण और दोष आदि को नहीं पहिचानते उनका निस्तार इस संसार से होना असंभव है, अतएव विशेषज्ञ मनुष्य गृहस्थधर्म और गुणग्रहण करने योग्य है।

२८ कृतज्ञः–किये हुए उपकारों को जाननेवाला पुरुष अनेक सद्गुण प्राप्त कर सकता है और जो उपकारों को भूल जाता है अथवा गुण लिये वाद उपकारी पर मत्सर धारण करता है उसमें फिर गुणवृद्धी नहीं हो सकती, और सीखे हुए गुण प्रतिदिन मलिन होते जाते हैं अतएव उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़नेवालों को कृतज्ञ हो गुण ग्रहण करने में निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

२९ लोकवल्लभः–विनय, विवेक, आदि सद्गुणों से प्रामाणिक लोकों को प्रियकर होनेवाला पुरुष उत्तम गुणों का संग्रह कर सकता है। यहाँ पर लोक

शब्द से सामान्य लोक नहीं समझना चाहिये, सामान्य लोकों को प्रायः कोई वल्लभ नहीं होता। क्योंकि दुनिया दो रंगी है-धर्म करने वालों की भी निन्दा करती है, कार्य करनेवालों में दोष निकालती है, और नहीं करनेवालों को आलसी, अथवा हतवीर्य कहती है। इसीसे किसी बुद्धिमान ने कहा है कि 'लोक मूके ते फोक, तूं तारु सभाल' अर्थात् लोक चाहे सो कहते रहें परन्तु तुझे तेरा (अपना) कार्य संभाल लेना चाहिये। इस लोकोक्ति में लोक शब्द से सामान्यलोक का ग्रहण किया है, परन्तु 'लोकवल्लभ.' यहाँ तो लोक शब्द से प्रामाणिक लोक ही जानना चाहिये।

३० सलज्जः-लज्जावान् पुरुष अंगीकार किये हुए नियमों को प्राण नष्ट होने पर भी नहीं छोड़ता, इसी से 'दशवैकालिकसूत्र' में लज्जा शब्द से संयम का ग्रहण किया है। सयम का कारण लज्जा है, अतएव कारण में कार्योपचार करने से लज्जा संयम गिना जाता है। लज्जावान् पुरुषों की गिनती उत्तमपुरुषों की पंक्ति में होती है, किन्तु निर्लज्जों की नहीं होती। लज्जा गुण को धारण करनेवाले अग्नि में प्रवेश करना, अरण्यवास करना और

भिक्षा से जीना अच्छा समझते हैं, लेकिन प्रतिज्ञा-भ्रष्ट होना ठीक नहीं समझते। अतएव लज्जावान् मनुष्य गुणवान् बनने के योग्य और धर्म के भी योग्य कहा गया है।

२१ सदयः—दुःखी जीवों को दुःख से बचाना अर्थात् सुखी करना, ऐसे गुणवाला पुरुष धर्म के योग्य होता है। दया के बिना कोई पुरुष धर्म के लायक नहीं हो सकता। दुःखित जीवों को देखकर जिसका अन्तःकरण दयार्द्र नहीं होता वह अन्तःकरण नहीं है, किन्तु अन्तकरण (नाशकारक) है। धर्म के निमित्त पञ्चेन्द्रिय जीवों का वध करनेवाला धर्म के लायक होना कठिन है, दयावान् पुरुष ही दान पुण्य आदि सुकृत कार्य भले प्रकार कर सकता है। सब दानों में दयादान बडा है, जो एक जीव की रक्षा करता है वह भी सदा के लिये निर्भय हो जाता है, तो सब जीवों की रक्षा करनेवालों की तो बात ही क्या कहना है ?। इसलिये मनुष्यों को निरन्तर सदय रहना चाहिये, दयादान देनेवाला भवान्तर में सुखी रहता है। सुमेरु पर्वत के बराबर सुवर्णदान से, संपूर्ण पृथिवी के दान से और कोटि गोदान से

जितना फल होता है उतना फल एक जीव की रक्षा करने से होता है, इससे गुणाभिलापिओं को उचित है कि दयालुस्वभाव हो प्राणिमात्र को सुखी बनाने का प्रयत्न करें।

३२ सौम्यः—शान्तप्रकृतिवाला पुरुष हरएक सद्गुण को सुगमता से प्राप्त करता है। इसी गुण से पुरुष सब को प्रिय लगता है और इसीसे उसको सब कोई उत्तम और रहस्यपूर्ण गुण सिखाने में कसर नहीं करते है। क्रूरस्वभावी पुरुषों को कोई कुछ नहीं सिखलाता और न उससे कोई मित्रता ही रखता है। इसलिये उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ने वालों को निरन्तर शान्तस्वभाव ही रखना चाहिये। क्योंकि शान्तस्वभाववाले पुरुषों के पास हिंसक जन्तु भी वैरभाव छोडकर विचरते हैं; अर्थात् गौ और सिंह आदि भी साथ ही सहवास करते हैं।

३३ परोपकृतिकर्मठः—परोपकार में दृढ़वीर्य (तत्पर) मनुष्य संसारगत मनुष्यों के नेत्र में अमृत के समान देख पड़ता है, और परोपकार रहित पुरुष विष के समान जान पडता है। मनुष्य शरीर के अवयव दूसरे जीवों के तरह किसी काम में नहीं आते, इससे असार शरीर से परोपकारादि सार

निकाल लेना ही प्रशस्य है। क्योंकि परोपकार धर्म का पिता है, और धर्म से बढ़कर संसार में कोई सार पदार्थ नहीं है। प्रसंगप्राप्त यहाँ पर परोपकार की पुष्टि के लिये एक दृष्टान्त लिखा जाता है, आशा है, कि पाठकों को वह अवश्य रुचिकर होगा।

राजा भोज के दरबार में एक समय पंडितों की सभा हुई, उसमें साहित्यविद्या में प्रवीण और शास्त्रपारंगत अनेक नामी नामी विद्वान् उपस्थित हुए। उस सुरम्य सभा में राजा भोज ने पूछा कि विद्वानों! कहो कि धर्म का पिता कौन है?। इस प्रश्न के उत्तर में पंडितो में नाना भाँति के विकल्प खड़े हो गये। किसी ने कहा कि—धर्म नाम युधिष्ठिर का है, इससे उसका पिता राजा पाण्डु है। किसी ने कहा यह ठीक नहीं धर्म अनादि है इसलिये इसका पिता ईश्वर है। किसी ने कहा यह भी अनुचित है क्यों कि निरंजन निराकार ईश्वर धर्म को कैसे उत्पन्न कर सकता है?, और कईएक धर्मों में ईश्वर को उत्पादक नहीं माना जाता तो क्या उनमें धर्म नहीं है?। किसी ने कहा धर्म का पिता सत्य है, कारण कि सत्य से धर्म उत्पन्न होता है। किसी ने कहा मुझे तो यह उत्तर ठीक नहीं मालूम होता

क्योंकि सत्य धर्म का उत्पादक नहीं, किन्तु अङ्ग माना गया है। इस प्रकार पंडितों में कोलाहल मच गया परन्तु सब का एक मत नहीं हुआ। तब राजा भोज ने अपने मुख्य पण्डित कालिदास से कहा कि तुमको एक महिने की अवधि दी जाती है, इसमें इस प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह निश्चय करके देना, नहीं तो ठीक नहीं होगा।

सभा विसर्जन हुई, सब पंडित भारी चिन्ता में पड़े, परन्तु कालिदास को सब से अधिक चिन्ता उत्पन्न हुई। विचार ही विचार में महिने में एक ही दिन अवशेष रह गया, कालिदास चिन्तातुर हो अरण्य में चले गये परन्तु सन्तोष कारक कोई समाधान का कारण नहीं मिला। तब अपनी इष्ट-देवी काली का स्मरण कर आत्मघात करने के लिये समुद्यत हुआ इतने में आकाशवाणी प्रगट हुई कि—

" महाकवे ! मा म्रियस्व त्वं रत्नमसि भारते।
धर्मस्यैव पिता सत्यमुपकारोऽखिलप्रिय॰ ॥ १॥"

हे महाकवि ! मत मर, तूं इस भारतवर्ष में रत्न है, समस्त संसार को प्रिय धर्म का पिता निश्चय से उपकार है अर्थात् तूं यह निश्चय से समझले कि धर्म का पिता उपकार ही है।

इस श्लोक को सुनते ही कालिदास को असीम आनन्द हुआ, और राजा भोज को उत्तर देने के लिये आखिरी दिन सभा में हाजिर हुआ। राजा के पूछने पर कालिदास ने कहा कि—महाराज ! धर्म का पिता उपकार है। इस बाबत में महात्मा बुद्ध का भी अभिप्राय है कि 'दया उपकार की माता, और उपकार धर्म का पिता है। इस उपकार का प्रकाश जिसके हृदयपट पर पड़ा, वह मनुष्य दिव्यदृष्टि समझा जाता है।'

इस उत्तर को सुनकर राजा भोज अत्यानन्दित हुआ और उसने अपने आश्रित पाँचसौ पण्डितों से सुशोभित सभा में कालिदास का बड़ा भारी सत्कार किया। इसी से कहा जाता है कि संसार में निःस्वार्थ उपकार के प्रभाव से ही मनुष्य पूज्य समझा जाता है। एक भाषाकवि ने भी लिखा है कि—

स्वार्थ विन उपकार दिव्य गुण कहे जाय,
स्वार्थ विन उपकार धर्म को प्रभाव है।
स्वार्थ विन उपकार सुकृत की सुन्दर माल,
स्वार्थ विन उपकार पूर्ण प्रेम भाव है॥
हरि हर जैन बौद्ध स्वार्थ विन उपकार से,
जगत में पूज्य वने पूरण प्रभाव से।

ऐसे दिव्यगुण धरी रहो नित्य मगन में,
परम उपकार यश गाजे है गगन में ॥ १ ॥

उपकार के विषय में आधुनिक विद्वानों ने भी लिखा है कि–" मनुष्य की श्रेष्ठता, उदारता, मोटाई और नम्रता में रही हुई है, जिनमें परोपकार गुण नहीं है उनका जीना संसार में व्यर्थ और भारभूत है "

" जिसके हृदय में उपकार वृत्ति रहती है उसके हृदय में परमेश्वर निवास करता है, जिसके हृदय में उपकारवृत्ति रूप सिंहासन रक्खा है उसपर परमेश्वर विराजमान होता है, अये पामर! अपना उपकार रूप चिलकता हुआ हीरा परमेश्वर को भेंट कर। "

" अपने पाड़ोसी को तुम देखते हो परन्तु उसपर तुम प्रेम नहीं रख सकते हो, तो परमेश्वर तो अदृश्य है उसपर प्रेम किस प्रकार रख सकोगे। "

" परोपकार महागुण तुम्हारे साथ है और वह मानसिक, वाचिक तथा कायिक शक्ति का उत्पादक है, इसलिये सब गुण के पहिले इसी गुण को प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिये। "

" उपकार महादान, उपकार देवपूजा और उपकार मन को नियम में रखनेवाली उत्तम समाधि है। उपकारकर्ता देव, गुरु, मित्र और सब कोई को प्रिय लगता है, उपकार के विना कोई शुभकार्य सफल नहीं होता। "

" सूर्य, चन्द्र, मेघ, वृक्ष, नदी, गौ और सज्जन ये; सब इस युग में परोपकार के लिये पैदा हुए हैं। जो मनुष्य प्रेम से पूर्ण हो परोपकार रूप यज्ञ करता है, उसको हिंसामय दूसरे यज्ञ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। "

" स्वर्ग सुख से भी परोपकारी जीवन उत्तम है। जो मनुष्य कायम परोपकार कर सकता है उसको स्वर्ग में जाने की जरूरत नहीं है। उपकार रहित मनुष्य की अपेक्षा तो पत्र पुष्प और छाया के द्वारा उपकार करनेवाले वृक्ष ही श्रेष्ठ हैं।'

' उपकारी पुरुष का जीवन असली नाणा (सिक्का) के समान है, इससे वह चाहे जहाँ चला जाय उसकी कदर और कीमत होती है। खानदान कुटुम्ब का उपकार शून्य लड़का खोटे नाणा के समान है, इससे उसकी विदेश में भी कदर और कीमत नहीं होती। "

" यदि तुम्हारे हस्तगत कुबेर का भी भंडार हो तो भी अपनी सन्तति को विद्या (हुन्नर) सिखाओ, चाँदी स्वर्ण की थैलियाँ खाली हो जाती है, लेकिन कारीगरी की थैली नहीं खुट सकती। जो हुन्नर होगा तो किसी की गुलामी करने का मौका नहीं आवेगा और न भिक्षा माँगना पडेगी।"

" जिस तरह मल को साफ करने के लिये जल, वस्त्र को साफ करने के लिये साबू, शस्त्र को घिसने के लिये शराणी, सुवर्ण परीक्षा के लिये अग्नि, और नेत्रों की सुन्दरता वढाने के लिये अंजन की आवश्यकता है। उसी प्रकार संपूर्ण कला कौशल और संपत्ति प्राप्त करने के लिये उपकार महागुण को सीखने की आवश्यकता है। "

' जिस पुरुष को सन्मार्ग की प्राप्ति हुई हो और यदि वह यह चाहता हो कि जन्म जन्मान्तर में भी मुझे सन्मार्ग मिलता जाय, तो उसे चाहिये कि निरन्तर परोपकार करने में तत्पर रहे। क्योंकि परोपकार करने ही से पुरुष के गुणों का उत्कर्ष होता है। यदि परोपकार सम्यक् प्रकार से किया जाय तो वह धीरता को वढ़ाता है, दीनता को कम करता है, चित्त को उदार वनाता है, उदरभरित्व

को छुड़ाता है, मनमें निर्मलता लाता है और प्रभुता को प्रगट करता है। इसके पश्चात् परोपकार करने में तत्पर रहनेवाले पुरुष को पराक्रम (वीर्य) प्रगट होता है, मोहकर्म नष्ट होता है और दूसरे जन्मों में भी वह क्रम से उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुन्दर सन्मार्गों को पाता है। तथा वह ऊपर चढ़कर फिर कभी नीचे नहीं गिरता, किसी की याचना की अपेक्षा नहीं करना चाहिये, अर्थात् यह नहीं सोचना चाहिये कि जब कोई हमसे आकर पूछेगा तब हम बतलावेंगे।"

अतएव परोपकार परायण मनुष्य ही धर्म के योग्य बनता है और अनेक सद्गुणों को प्राप्त कर उत्तमता की सीढ़ी पर चढ़ता है, इसलिये हरएक मनुष्य को इसी गुण के अभ्यास करने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि उपकार के प्रभाव से भी पुरुष उत्तमदशा को प्राप्त कर सकता है।

" अन्तरङ्गरिषड्वर्ग–परिहारपरायणः।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृही धर्माय कल्पते ॥१०॥"

भावार्थ–३४ अन्तरङ्ग छ शत्रुओं का त्याग करनेवाला पुरुष धर्म के और गुण ग्रहण करने के

योग्य होता है। वास्तव में प्रत्येक प्राणिवर्ग के गुणों का नाश करनेवाले अन्तरङ्ग शत्रु ही है। यदि अन्तरङ्ग शत्रु हृदय से बिलकुल निकाल दिये जॉय, तो हरएक सद्गुण की प्राप्ति सुगमता से हो सकती है। जिस ने अन्तरङ्ग शत्रुओं को पराजित कर दिया उसने सारे संसार को वश में कर लिया ऐसा मान लेना बिलकुल अनुचित नहीं है। काम से दाण्डक्य भोज, क्रोध से करालवैदेह, लोभ से अजबिन्दु, मान से रावण तथा दुर्योधन, मद से हैहय तथा अर्जुन और हर्ष से वातापि तथा वृष्णिजंघ आदि को इस संसारमण्डल में अनेक दुःखों का अनुभव करना पड़ा है। अतएव अन्तरङ्ग शत्रुओ का परित्याग करनेवाला मनुष्य अपूर्व और अलौकिक योग्यता का पात्र बनकर अपना और दूसरों का सुधारा कर सकता है।

३५—वशीकृतेन्द्रियग्रामो, गृही धर्माय कल्पते।'

अर्थात् जिसने इन्द्रियसमूह को वश कर लिया है वह पुरुष गृहस्थधर्म के योग्य हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अभी धर्म की प्राप्ति तो हुई नहीं तो इन्द्रियसमूह को वशीभूत करना किस प्रकार बन सकता है, और इन्द्रियों

को वश करनेवाला पुरुष गृहस्थाश्रम किस तरह चला सकता है ?।

इसके समाधान में हम यही कहना समुचित समझते हैं कि—' वशीकृतेन्द्रियग्रामः ' इस वाक्य का अर्थ इस तरह करना चाहिये कि जिसने इन्द्रियसमूह को मर्यादीभूत किया है, क्योंकि इन्द्रियों का सर्वथा परित्याग तो मुनिराज ही कर सकते हैं, परन्तु मर्यादीभूत अर्थ करने से गृहस्थों के लिये किसी तरह बाधा नहीं रह सकती। धर्मप्राप्ति के पूर्व मनुष्य स्वभाव से ही मर्यादावर्त्ती देख पडता है, और धर्मप्राप्त होनेबाद भी मर्यादा पूर्वक ही विषयादि का आचरण करना शास्त्रकारों ने प्रतिपादन किया है।

जो गृहस्थ इन्द्रियों को मर्यादा में रख कर मानसिक विकारों को रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं, उनका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है। इन्द्रियों को मर्यादा में रखने से ही शारीरिक और मानसिक अपूर्व शक्ति का उदय होता है और जो विषयलुब्ध हैं उनकी शरीरसंपत्ति बिगड़े विना नहीं रह सकती। एक एक इन्द्रियों के विषयवशवर्त्ती प्राणी जब दुःखी देखे जाते हैं तो पाचों इन्द्रियों

के विषय में लुब्ध होने वाले प्राणियों की दशा बिगडे इसमें आश्चर्य ही क्या है ?। जब तक इन्द्रियों को पराजय करने का अभ्यास नहीं किया तब तक दूसरा अभ्यास किया हुआ सफल नहीं होता, अतएव इन्द्रियों को मर्यादा में रखनेवाला गृहस्थ ही धर्म के योग्य होता है।

इस प्रकार मार्गानुसारी गुणों का संक्षिप्त स्वरूप कहने के बाद यह लिखा जाता है कि–मार्गानुसारी मनुष्यों को मध्यम भेद में क्यों गिने ?। इसका समाधान ग्रन्थकार महर्षी इस तरह करते है–कि मार्गानुसारी पुरुष स्वार्थ और परमार्थ दोनों का साथ ही साधन करता है, अर्थात् त्रिवर्ग का साधन कर परमार्थ साधन करता है, किन्तु केवल परमार्थ (परोपकार) ही नहीं करता रहता।

नीतिकार स्वार्थ और परमार्थ को साथ ही साधन करने का उपदेश देते हैं, परन्तु धर्मशास्त्र कहता है कि स्वार्थ को छोडकर केवल परोपकार करने में दत्तचित्त रहना चाहिये। मार्गानुसारी पुरुष नीतिमार्ग का आचरण करनेवाला होता है, इसी से वह प्रथम स्वार्थ का साधन करके तदन-

न्तर परमार्थ में प्रवृत्ति करता है, अतएव मार्गानु-सारी पुरुष मध्यमभेद में ही गिने जाता हैं।

मध्यमभेदवाला मनुष्य मध्यस्थस्वभावी होता है, किन्तु किसी भी धर्म (मत) का द्वेषी नहीं होता, इसी से वह सब दर्शनों पर गुणानुराग रख-कर प्रत्येक दर्शन से सत्य सत्य बात का ग्रहण कर लेता है और धीरे धीरे सद्गुणी बनकर परोपकार करने में दृढव्रती बनता है।

पूर्वोक्त चारभेदवालों की प्रशंसा का फल—

एएसिं पुरिसाणं जइ गुणगहणं करेसि बहुमाणं।
तो आसन्नसिवसुहो, होसि तुमं नत्थि संदेहो ॥२२॥

एतेषां पुरुषाणां, यदि गुणग्रहणं करोषि बहुमानम्।
तत आसन्नशिवसुखो, भवसि त्वं नास्ति संदेहः ॥२२॥

शब्दार्थ–(एएसिं) इन पूर्वोक्त (पुरिसाणं) पुरुषों का (बहुमाणं) बहुमान पूर्वक (जइ) जो (गुणगहणं) गुणग्रहण (करेसि) करेगा (तो) तो (तुमं) तूँ (असन्नासिवसुहो) थोडे ही समय में मोक्षसुख वाला (होसि) होवेगा (संदेहो) इसमें संदेह (नत्थि) नहीं है।

भावार्थ–जो मनुष्य पूर्वोक्त चार भेदवाले पुरुषों

के बहुमानपूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, उनको निःसन्देह शिवसुख मिलता है।

विवेचन—पूज्य पुरुषों की सादर प्रशसा करने से अज्ञान का नाश होता है, बुद्धि निर्मल होती है, सद्गुणों का स्रोत बढता है, अपमान का क्षय होता है, आत्मीय शक्ति का प्रकाश, सैद्धान्तिक रहस्यों का ज्ञान, और अनुपम सुखों का अनुभव होता है। गुणी बनने का सब से सरल उपाय यही है कि, पूज्यों का आदर, उनके आनेपर खड़े होना, जहाँ तहाँ उनके गुणों की प्रशंसा करना। पूज्य पुरुषों की निन्दा कभी न करना चाहिये, क्योंकि इससे सद्गुणों की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा से प्राप्त गुणों का विनाश होता है। संसार में गुण-द्वेषी मनुष्य दु.खी देखे जाते हैं, और गुणप्रशंसा करनेवाले लोगों के द्वारा समानित होते देख पडते हैं।

अहा ! ! उन सत्पुरुषों को धन्य है जो कि इस ससार में जन्म लेकर नि स्वार्थवृत्ति से परोपकार करने में अपने जीवन को व्यतीत कर रहे है, जो सैकडों दु.ख सहनकर संसार रूप दावानल से सन्तप्त

पामर प्राणियों का उद्धार करने में दत्तचित्त हैं, जो किसी में अंशमात्र भी गुण है तो उसको पर्वत के समान मानकर आनान्दित होते हैं, जो स्वयं दुःख देखते हैं लेकिन दूसरों को दुःखी नहीं होने देते, जो करुणाबुद्धि से संसारी प्राणियों को सुखी होने के उपाय खोजा करते हैं, जो मरणान्त कष्ट आ पडने पर भी सत्यमार्ग का उल्लंघन नहीं करते हैं, जो स्वपर हितसाधक व्रतों को पालन करने में सदोद्यत रहते हैं और जो मद मात्सर्य से रहित हो शिष्टाचरण में लगे रहते हैं। " वह दिन कब उदय होगा कि जब मैं भी सत्पुरुषों के मार्ग का आचरण करूंगा और सकल कर्मों का क्षय कर अखण्डानन्द विलासी बनूंगा।" इस प्रकार शुद्ध भावना के साहित गुणिजनों के गुणों की प्रशंसा कर हृदय को पवित्र करना चाहिये। परमार्थ सिद्धि के लिये पवित्र हृदय की ही आवश्यकता है, धर्म शब्द की व्याख्या करते हुए श्रीमान् श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने ' पुष्टिशुद्धिमाच्चित्तं धर्मः ' पवित्र विचारों से पुष्ट हुआ अन्तःकरण ही धर्म है अर्थात् हृदय की पवित्रता को ही धर्म माना गया है।

गुणप्रेमी पुरुष धर्म का मर्म सुगमता से समझ सकता है। ग्रन्थकारों ने लिखा है, कि—जो कल्याण की इच्छा रखनेवाला, गुणग्राही, सत्यप्रिय, विनीत, निर्मायी, जितेन्द्रिय, नीतिमान्, स्थिराचित्त, विवेकवान्, धैर्यवान्, धर्माभिलाषी और बुद्धिमान् हो, उसीको धार्मिक मर्म समझाना चाहिये, क्योंकि उक्त गुणवाला मनुष्य धार्मिक रहस्यों को भले प्रकार समझकर शास्त्रीय नियमों को स्वयं पालन करता है और दूसरों को भी पालन कराता है। परन्तु अन्तःकरण की श्रद्धा तथा गुणप्रेमी हुए विना धार्मिक तत्त्वों को समझने का साहस करना आकाशकुसुमवत् है।

स्वाभाविक हृदयकी पवित्रता अन्तर्हेतुओं को पुष्ट करनेवाली और औन्नत्य दशा पर चढ़ानेवाली होती है। इस भारतभूमि के एक कोणे में अनेक विद्वान् जन्म लेकर विलय हो चुके हैं और अब भी हो रहे हैं, लेकिन प्रशंसा उन्हीं की है जो स्वानुभव के योग से अन्तरङ्ग प्रेम रख कर गुणप्रशंसा करने में अपने अमूल्य समय को व्यतीत करने में उद्यत हैं। शास्त्रकार महर्पियों का तो यहाँ तक कहना है कि—निर्दोपचारित्रवान् और सिद्धान्तपारगामी होने

पर भी यदि चित्तवृत्ति निन्दा करने की तरफ आकर्षित हो तो उसे मोक्ष सुख का रास्ता मिलना दुर्घट है, और जो शिथिलाचारी है परन्तु वह गुणनुरागी हे तो उसे शिवसुख मिल जाना कठिन नहीं है। इसी विषय की पुष्टि के लिये यहाँ एक दृष्टान्त लिखा जाता है उसे वाचकवर्ग मनन करें।

कुसुमपुर नगर के मध्य में किसी श्रीमन्त सेठ के घर में दो साधु उतरे। एक मेड़ी पर और एक नीचे ठहरा। ऊपरवाला साधु पंचमहाव्रतधारी शुद्धाहारी, पादचारी, सचितपरिहारी, एकलविहारी आदि गुणगण विभूषित था, परन्तु केवल लोकैषणा मग्न था। नीचे उतरा हुआ साधु, था तो शिथिलाचारी, लेकिन गुणप्रेमी, निर्मायी निरभिमानी और सरल स्वभावी था।

भक्तलोग दोनों साधु को वन्दन करने के लिये आये, प्रथम नीचे उतरे साधु को वन्दन कर के फिर मेड़ी पर गये। उपरिस्थित साधु को यह बात मालूम हुई कि ये नीचे वन्दन करके यहाँ आये हैं, अतएव उसने भक्त लोगों से कहा कि—पार्श्वस्थों को वन्दन करने से महापाप लगता है, तथा भगवान् की आज्ञा का भंग होता है, और संसारवृद्धि

होती है। नीचे जो साधु ठहरा हुआ है उसमें चारित्रगुण शिथिल हैं, उसके आचरण प्रशंसा के लायक नहीं हैं, इसलिये ऐसो के वन्दन से संसार परिभ्रमण कम नही हो सकता। भक्त लोग हॉजी हॉजी कर नीचे उतरे. और सब वृत्तान्त नीचे के साधु से कह दिया।

भक्त लोगों की बातें सुनकर नीचेका साधु कहने लगा कि—"ऊपर के पूज्यवर्य महाभाग्यशाली, सूत्रसिद्धान्तपारगामी, निर्दोपचारित्रवान्, शुद्ध आहार लेनेवाले है; मे तो शिथिल हू, केवल उदरंभरी हूं, मुज में प्रशंसा के लायक एक भी गुण नहीं है, में साधुधर्म से विलकुल विमुख हूॅ इसलिये ऊपर के मुनिवर ने जो मुझको अवन्दनीय बताया है वह ठीक ही है।"

गुणानुरागी मुनि के प्रशसा जनक वचनों को सुनकर भक्तलोग चकित हो गये और मुक्तकण्ठ से उसकी प्रशंसा करने लगे। इसी अवसर में नगर के वाह्योद्यान में कोइ अतिशयज्ञानी मुनिवरेन्द्र का पधारना हुआ, सब लोग वन्दन करने को गये। योग्य सभा के वीच में मुनिवरने मधुर वचनों से कहा कि—

भव्यो ! " किसी शुभकर्म के उदय से यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यजन्म धारण कर के तथा उत्तम कुल और उत्तम धर्मादि सामग्री पा करके तुमको चाहिये कि जो वस्तुएँ छोडने योग्य हैं उन्हें छोडना, जो करने योग्य कर्म हैं उन्हें करना, जो प्रशंसा करने योग्य हैं उनकी प्रशंसा करना और जो सुनने योग्य हैं उन्हे अच्छी तरह से सुनना। मन वचन और काय संबन्धी ऐसी प्रत्येक क्रिया जो कि परिणामों में थोडीसी भी मलिनता उत्पन्न करने वाली, अतएव मोक्ष की रोकनेवाली हो, अपनी भलाई चाहनेवालों को छोड़ देनी चाहिये। जिनका अन्तरात्मा निर्मल हो गया है, उन्हें तीनलोक के नाथ जिनेन्द्रदेव, उनका निरुपण किया हुआ जैन-धर्म, और उसमें स्थिर रहनेवाले पुरुष, इन तीनों की निरन्तर प्रशंसा करनी चाहिये। "

मुनिवर के आत्मोद्धारक सुभाषित वचनों को सुनकर श्रोता अत्यानन्दित हुए। अवसर पाकर भक्तलोगों ने पूछा कि भगवन् ! गाँव में जो दो साधु ठहर हुए हैं उनमें लघुकर्मी कौन है ?। अतिशयज्ञानीने कहा कि जो साधु निन्दाकरनेवाला लोकैषणामग्न और दम्भी मढ़ीपर ठहरा है उसके

भव बहुत हैं, अर्थात् वह संसार में अनेक भव करेगा और जो गुणप्रेमी सरलस्वभावी साधु नीचे ठहरा हुआ है वह परिमित भव में कर्म-मुक्त होकर मुक्तिमन्दिर का स्वामी बनेगा।

पाठकमहोदय ! इस दृष्टान्त का सार यही है कि उत्तम पुरुषों के गुणों का बहुमान और प्रशंसा करनेवाला मनुष्य ही मोक्षसुख का पात्र बन सकता है, परन्तु निन्दक और गुणद्वेषी नहीं बन सकता। अतएव एकान्त में या सभा के बीच में, सोते हुए या बैठे और गाँव में या अरण्य में, सब जगह प्रतिक्षण उत्तम पुरुषों के गुणो का बहुमान ही करते रहना चाहिये। इसीसे मनुष्य आश्चर्य कारक उन्नत दशा पर चढकर अपना और दूसरों का भला कर सकता है।

पार्श्वस्थादिकों की भी निन्दा और प्रशंसा नहीं करना--

पासत्थाऽऽइसु अहुणा, संजमसिढिलेसु मुक्कजोगेसु।
नो गरिहा कायव्वा, नेव पसंसा सहा मज्झे ॥२३॥

पार्श्वस्थादिष्वधुना, संयमशिथिलेषु मुक्त योगेषु।
नो गर्हा कर्त्तव्या, नैव प्रशंसा सभा मध्ये ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—(अहुणा) वर्त्तमान समय में (मु-

ऊजोगेसु) त्रिविध योग से रहित (संजमासिढिलेसु) संयम परिपालन में शिथिल (पासत्थाऽऽइसु) पार्श्व-स्थादिकों की (सहा सज्झे) सभा के बीच में (नो) नहीं (गारिहा) निन्दा (कायव्वा) करना और (नेव) नहीं (पसंसा) प्रशंसा करना चाहिये ।

भावार्थ—आज कल संयम पालन करने में ढीले पड़े हुए योगक्रिया से हीन पार्श्वस्थ आदि यतिवेषधारी पुरुषों की, सभा के बीच में न तो निन्दा और न प्रशंसा ही करना चाहिये ।

विवेचन—संयम लेकर जो नहीं पालन करते और अनाचार में निमग्न रहते हैं उनको अधम से भी अधम समझना चाहिये। आजकल जैनसंप्रदाय में भी बाहर से तो साधुपन का आडम्बर रखते हैं और गुप्तरीति से अनाचारों का सेवन करते हैं, ऐसे एक नहीं किन्तु अनेक नामधारी साधु देख पड़ते हैं। इसी प्रकार श्रावक भी–श्रावक के गुणों से शून्य, मायाचारी, अनाचारशील, देवद्रव्यभक्षक, कलहप्रिय और धर्मश्रद्धा विहीन देखे जाते हैं ।

जो विषयादि भोगों में लुब्ध चित्तवाले हैं, और जो बाह्य वृत्ति से राग रहित मालूम होते हैं,

परन्तु अन्तःकरण में बद्धराग हैं, ऐसे लोगों को कपटी तथा केवल वेषाडम्बरी धूर्त्त समझना चाहिये। इस प्रकार के धूर्त्त केवल लोगों के चित्त को रंजन करने मे ही प्रयत्नशील रहते हैं। हिन्दुस्तान में वर्त्तमान समय में बावन अठावन लाख नामधारी साधु हैं, उनमें कितने एक यशोवाद् धन माल आदि के आधीन हो साध्वाचार को जलांजली देनेवाले है, और कई एक उन्मत्तता से स्वेच्छाचारी बनकर शास्त्र-मर्यादा को उल्लंघन कर रहे हैं।

पूर्वोक्त विडम्बकों की प्रशंसा करना यह प्रायः अनाचारों की प्रशंसा करने के समान है, इस लिये इनकी प्रशंसा नहीं करना चाहिये, परन्तु सभा के बीच में इन की निन्दा भी करना अनुचित है। शीलहीन अनाचारी पुरुषों के साथ में परिचय न रखकर उनकी प्रशंसा, अथवा निन्दा करने का प्रसंग ही नहीं आने देना चाहिये, यह सब से उत्तम मार्ग है। क्योंकि निन्दा करने से शिथिलाचारियों की शिथिलता मिट नहीं सकती, प्रत्युत वैर–विरोध अधिक बढ़ता है। और प्रशंसा करने से शिथिलाचार की मात्रा अधिकता से बढ़ जाती है, जिससे

धार्मिक और व्यावहारिक व्यवस्था लुप्तप्राय (नष्ट-भ्रष्ट) होने लगती है ।

राजा की शिथिलता से प्रबल राज्य का, नियोजकों की शिथिलता से बड़े भारी समाज का, आचार्यों की शिथिलता से दिव्य गच्छ का, साधुओं की शिथिलता से संयमयोग का, पति की शिथिलता से स्त्रियों के व्यवहार का, पिताओं की शिथिलता से पुत्रों के सदाचारों का, और अध्यापकों की शिथिलता से विद्यार्थियों के ज्ञान का नाश होते देर नहीं लगती । अतएव बुद्धिमानों को शिथिलाचारियों की प्रशंसा और निन्दा न करनी चाहिये परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति का प्रतिपादन करने में हरकत नहीं है ।

" संसार का विचित्र ढ़ंग है, इसमें नाना मतिशाली पुरुष विद्यमान हैं । कोई नीतिज्ञ, कोई कर्मज्ञ, कोई मर्मज्ञ, कोई कृतज्ञ है, तो कोई त्रिकालगत पदार्थों का विवेचन करने में निपुण है, और कोई अद्वितीय शास्त्रज्ञ है, परन्तु स्वदोषों को जाननेवाले तो कोई विरले ही पुरुष हैं । बृहस्पति जो कि देवताओं के गुरु कहे जाते हैं, उनसे भी वह पुरुष अधिक बुद्धिवान् समझा जाता है, जो

कि अपने में स्थित दोषों को ठीक ठीक जानता है और उनको दूर करने में प्रयत्नशील वना रहता है। जव मनुष्य इस वात का अनुभव करता है कि मुझ में जो जो त्रुटियॉ और अपवित्रताऍ हैं उन्हे मैं ने ही स्वयं उत्पन्न किया है, और मैं ही उनका कर्त्ता और उत्तरदाता हूं, तव उसे उनपर जय प्राप्त करने की आकांक्षा होती है। और किस तरह से उसे सफलता हो सकती है, वह मार्ग भी उसे प्रगट हो जाता है। इस वात का भी उसे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि मै कहां से आया हूं, और कहॉ मुझे जाना है। निन्दा में उन्मत्त हुए मनुष्य के लिये कोई मार्ग सरल और निश्चित नही है। उसके आगे पीछे विलकुल अन्धकार ही है। वह क्षणिक सुखों के अन्वेपण में रहता हे और समझने और जानने के लिये जरा भी उद्योग नहीं करता। उसका मार्ग अव्यक्त, अनवास्थित, दु:खमय और कंटकमय होता है, उसका हृदय शान्ति से कोशों दूर रहता है।"

संसार में सव कोई स्वयं किये हुए शुभाऽशुभ कर्मोंके स्वयं उत्तर दाता हैं ऐसा समझ कर अधमाऽधम पुरुपों की निन्दा और प्रशंसा करने से विलकुल दूर

रहना चाहिये, और नीचे लिखे गुर्जर भाषा के पद्य का मनन करके अपनी आत्मा को पवित्र बनाना चाहिये।

मन चन्द्राजी ! पुष्पसमी रीत–
राखी जगमां चालवुं मन० ॥ टेर ॥

तुं पुष्पसमी दृष्टि करजे,
सद्गुण तेनां उर धरजे।
दृढ निश्चय धारीने तरजे ॥ म० ॥ १ ॥

जेने दूरथी पण सुवास दिये,
निरखे ते झट चूंटि लिये।
दुःख थाय तथापि नहीं हीये ॥ म० ॥२॥

चोले तो तेनो नाश थतो,
पण हाथथी वास न दूर जतो।
एवो उत्तम गुण तुं कर छतो ॥ म० ॥ ३ ॥

हे मन ! पुष्पसमूं थई रहेजे,
अवगुण कोईना नव उर लेजे।
सर्वस्थले सहुने सुख करजे ॥ म० ॥ ४ ॥

कनडे तेने सुख देवुं,
तुं आजथी व्रत लेने एवुं।
दुःख लागे मन मारी रहेवुं ॥ म० ॥ ५ ॥

तत्त्वदृष्टिये दुःख नाम नहीं,
सुख पण शोध्युं जड़े न अहीं।
शीद झूरी मरे छे ममत्व ग्रही ॥ म० ॥६॥
कंकुचन्दनी जो तुं सीख धरे,
तो जल्दी तुं सुख शान्ति वरे।
आत्मा गुण खोजे मुक्ति वरे ॥ म० ॥७॥

अधमाधमों को उपदेशदेने की तरकीब–

काउण तेसु करुणं, जइ मन्नइ तो पयासए मग्गं।
अह रुसइ तो नियमा, न तेसिं दोसं पयासेइ ॥२४॥

कृत्वा तेषु करुणां, यदि मन्यते ततः प्रकाशते मार्गम्।
अथ रुष्याति ततो नियमात्, न तेषां दोष प्रकाशयति ॥२४॥

शब्दार्थ–(जइ) जो (मन्नइ) शिक्षा माने (तो) तो (तेसु) उनपर (करुण) दयाभाव (काउण) लाकर (मग्गं) शुद्धमार्ग को (पयासए) प्रकाशित कर (अह) अथवा वह (रुसइ) क्रुधित हो (तो) तो (तेसिं) उन के (दोसं) अवगुण को (नियमा) निश्चय से (न) नहीं (पयासेइ) प्रकाशित करना।

भावार्थ—हीनाचारी अधमाऽधम पुरुषों के ऊपर करुणाभाव ला करके यदि उन्हें अच्छा मालूम हो तो हितबुद्धि से सत्यमार्ग बताना चाहिये, यदि

सत्यमार्ग बताने में उनको क्रोध आता हो तो उनके दोष बिलकुल प्रकाशित न करना चाहिये।

विवेचन—वास्तव में उपदेश उन्हीं को लाभ कर सकता है कि जो अपनी आत्मा को सुधारना चाहते हैं। जो उपदेश देने से क्रुधित होते हैं उनको उपदेश देना ऊषर भूमिपर बीज बोने के समान निष्फल है। इसी से ग्रन्थकार ने 'जइ मन्नइ तो पयासए मग्गं' यह वाक्य लिखा है, इसका असली आशय यही है कि सुननेवालों की प्रथम रुचि देखना चाहिये, क्योंकि सुनने की रुचि हुए विना उपदेश का असर आत्मा में भले प्रकार नहीं जच सकता। अतएव रुचि से माननेवाले (अधमाधम) पुरुषों को हृदय में करुणाभाव रख मधुर वचनों से इस प्रकार समझाना चाहिये—

महानुभावो! इस संसार में अनेक भवों में परिभ्रमण करते हुए कोई अपूर्व पुण्ययोग से सर्व सावद्यविरतिरूप अनन्त सुखदायक चारित्र की प्राप्ति हुई है, उसको प्रमादाचरण से सदोष करना अनुचित है। जो साधु आलस छोड़कर मन, वचन और काया से साधु धर्म का पालन करते हैं उन्हें सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि सद्गुण प्राप्त होते हैं। जो सुख

साधुधर्म मे है वह राजा महाराजाओ को भी नही मिल सकता। क्योंकि साधुपन में दुष्टकर्मों की आवदानी नहीं है, स्त्री, पुत्र और स्वामी के कठोर वचनों का दुःख नही है, राजा वगैरह को नमस्कार करने का काम नही है, भोजन, वस्त्र पात्र, धन और निवासस्थान आदि की चिन्ता नहीं है, अभिनव ज्ञान की प्राप्ति, लोकपूजा और शान्तभाव से अपूर्व सुख का आनन्द प्राप्त होता है, और भवान्तर मे भी चारित्र परिपालन से स्वर्गाऽपवर्ग का सुख मिलता है।

जो साधु सयमधर्म मे बाधा पहुँचानेवाले विना कारण दिनभर शयन करना, शरीर हाथ मुख पैर आदि को धो कर साफ रखना, कामवृद्धि करनेवाले पौष्टिक पदार्थो का भोजन करना, सासारिक विषयवर्द्धक श्रृङ्गार–कथाओ को वांचने मे समय व्यतीत करना, गृहस्थो का और स्त्रियो का नित्य परिचय रखना, आधाकर्मादि वस्तुओ का सेवन और हास्य कुतूहल करना, अप्रतिलेखित पुस्तक, वस्त्र, पात्र और शय्या रखना, इत्यादि दोषो का आचरण करते हैं, उनको उभय लोक मे सुख समाधि नहीं हो सकती, और न कर्मबन्ध का स्रोत ही

घटता है। जो उक्त दोषों को छोड़कर छट्ठ अट्ठमादि तपस्या, क्षमा संयम में रक्त, क्षुधा, तृषा आदि परिषह सहन में उद्यत रहते हैं, वे भगवान् की आज्ञाओं की भले प्रकार आराधन कर मोक्षगति को सहज ही में प्राप्त करते हैं। अतएव साधुओं को चारित्र अंगीकार कर अनाचारों से अपनी आत्मा को बचाने में प्रयत्नशील रहना चाहिये।

कदाचित् उग्र संयम पालन करते न बने, तो स्त्रियों के परिचय से तो सर्वथा अलग ही रहना चाहिये, क्यों कि सुशील मनुष्य भी सामान्य से सज्जन और कृतपुण्य समझा जाता है। अनाचार सेवन करना महापाप है, दूसरे गुणों से हीन होने पर भी यदि अखंड ब्रह्मचर्य होगा तो उससे गुरु-पद की योग्यता प्राप्त हो सकेगी, ब्रह्मचर्य में गड़बड़ हुई तो वह किसी गुण के लायक नहीं रह सकता।

साधुधर्म को स्वीकार करके जो गुप्तरूप से अनाचार सेवन, और मायास्थान सेवन करते हैं, उनसे गृहस्थधर्म लाख दरजे ऊँचा है, इसी से शास्त्रकार कहते हैं कि यदि साधुता तुम्हारे से न पाली जा सकती हो तो गृहस्थ बनो, अगर तुम्हें ऐसा करने में लज्जा आती हो तो निष्कपटभाव से

लोगों के समक्ष यह बात स्पष्ट कहो कि मैं साधु नहीं हूं, परन्तु साधुओं का सेवक हूं, जो उत्तम साधु हैं उन्हें धन्य है, मै तो उनके चरणों के रज की भी बरावरी नहीं कर सकता। मानासिक विकारों और तज्जन्य प्रवृत्तियों को रोक कर संयम परिपालन करना यह सर्वोत्तम मार्ग है और इसी मार्ग से आत्मिक अनन्तशक्तियों का विकाश होकर उत्तम प्रकार की योग्यता प्राप्त होती है।

यदि यथार्थ संयम पालन करने की सामर्थ्य का नाश होते देख पडे और मानसिक विकारों का स्रोत किसी प्रकार न घट सकता हो तो गृहस्थ बनकर गृहस्थ धर्म की सुरक्षा करना चाहिये, क्यों कि गृहस्थधर्म से भी आत्मीय सुधारा हो सकता है। कहा भी है कि–

"गारं पि अ श्रावसे नरे, अणुपुव्विं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छेस लोगयं॥"

भावार्थ–घर में निवास करनेवाला गृहस्थ भी अनुक्रम से देशविरति का पालन और सर्वत्र समताभाव में प्रयत्न करता हुआ देवलोकों में जाता

है। अर्थात् गृहस्थ घर में रहकर भी जिनेन्द्रोक्त श्रावक धर्म की भले प्रकार आराधना कर देव लोक की गति प्राप्त करता है और क्रमशः मोक्षगामी बनता है।

इसी प्रकार मधुर शब्दों में करुणाभाव से उन हीनाचारियों को, जो कि संयम धर्म से पतित अनाचारी हैं, उपदेश देकर सुधारना चाहिये, किन्तु उनके दोष प्रकट करना न चाहिये, क्योंकि दोषियों के दोष प्रकट करने से उनके हृदयपटपर उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता। हीनाचारियों के प्रति करुणाभाव रखने से उनके अज्ञान नष्ट करने में प्रवृत्त होने की प्रेरणा होती है, अन्त में परिणाम यह आता है कि न्यूनाधिक रूप से उन हीनाचारियों के अनाचार मिटने लगते हैं, उनकी आत्मिक उत्क्रान्ति का मार्ग भी साफ हो जाता है, और इस भावना और सहायता को करनेवाला मनुष्य भी उन्नत होता है। अतएव मधुरता और करुणाभाव पूर्वक ही प्रत्येक व्यक्ति को समझाने और सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। विकराल अथवा हिंसक पशु भी प्रेमदृष्टि और करुणाभाव से सुधर सकते हैं, तो अधम पुरुष क्यों नहीं सुधर सकते?।

ग्रन्थकार ने करुणाभाव पूर्वक समझाने की जो शिक्षा दी है, वह सर्व ग्राह्य है। वास्तव में उपदेशकों को ऊपदेश देने में, मातापिताओं को अपने बालक और बालिकाओं को समझाने में, गुरुजनों को अपने शिष्यवर्ग को सुधारने में, अध्यापकों को विद्यार्थिवर्ग को विद्या ग्रहण कराने में, और पति को अपनी स्त्री को सच्चरित्र बनाने में उक्त महोत्तम शिक्षा का ही अनुकरण करना चाहिये। जो लोग शिक्षा देते समय कटुक और अवाच्य शब्दों का प्रयोग करते हैं उनकी शिक्षाओं का प्रभाव शिक्षकवर्ग पर किसी प्रकार नहीं पड़ सकता और न उनका सुधारा ही हो सकता है।

अधमजनों को उपदेश देने और समझाने से यदि उनको अप्रीति उत्पन्न होती हो तो माध्यस्थ्य भावना रखकर न तो उनकी प्रशंसा और न उनके दोष ही प्रकट करना चाहिये। अर्थात् अधमजनों की नीच प्रवृत्ति देखकर उनकी प्रवृत्तियों से न तो आनन्दित होना, और न उनपर द्वेष ही रखना चाहिये। कर्मों की गति अति गहन है, पूर्ण पुण्य के विना सत्यमार्ग पर श्रद्धा नहीं आ सकती। वसन्त ऋतु में सभी वनराजी प्रफुल्लित होती हैं,

परन्तु करीर वृक्ष में पत्र नहीं लगते, दिन में सब कोई देखते हैं लेकिन घुग्घू नहीं देखता, और मेघ की धारा सर्वत्र पड़ती है किन्तु चातक पक्षी के मुख में नहीं पड़ती, इसमें दोष किसका है ? अतएव अधम जनों को उपदेश न लगे तो उनके कर्मों का दोष समझना चाहिये। ऐसा सम्यक्तया जानकर गुणिजनों को माध्यस्थ्यभावना पर आरूढ़ रह कर अधमजनों के दोष प्रकाशित करना उचित नहीं है।

वर्त्तमान समय में सद्गुणी पुरुष कम हैं, इसलिये पूर्वोक्त सभी गुण मिलना यह स्वाभाविक है, परन्तु जिसमें अल्प गुण भी देख पड़े उसका भी बहुमान करना चाहिये।

यही उपदेश ग्रन्थकार देते हैं—

संपइ दूसमसमए, दीसइ थोवो वि जस्स धम्मगुणो।
बहुमाणो कायव्वो, तस्स सया धम्मबुद्धीए ॥ २५॥

संप्रति दुःषमसमये, दृश्यते स्तोकोऽपि यस्य धर्मगुणः।
बहुमानः कर्त्तव्य-स्तस्य सदा धर्मबुद्धया ॥ २५ ॥

शब्दार्थ-(संपइ) इस (दूसमसमए) पंचमकाल में (थोवो) थोड़ा (वि) भी (जस्स) जिस पुरुष का (धम्मगुणो) धार्मिक गुण (दीसइ) देख प-

ड़ता हे (तस्स) उसका (वहुमाणो) वहुमान–आदर (सया) निरन्तर (धम्मबुद्धीए) धर्मबुद्धि से (कायव्वो) करना चाहिये ।

भावार्थ–वर्तमान समय में जिस मनुष्य में थोडे भी धार्मिक गुण देख पड़ें, तो उनकी भी धार्मिक बुद्धि से निरन्तर वहुमान पूर्वक प्रशंसा करनी चाहिये।

विवेचन–तीर्थङ्कर और गणधर सदृश स्वावलम्बी, कालिकाचार्य जैसे सत्यप्रिय, स्थूलभद्र, जंबुस्वामी और विजयकुँवर जैसे ब्रह्मचारी, सिद्धसेन, वादिदेव, यशोविजय और आनन्दघन जैसे अध्यात्मतार्किक शिरोमणि, हेमचन्द्र आदि के सदृश संस्कृतसाहित्य प्रेमी, और धन्ना, शालिभद्र, गजसुकुमाल आदि महिमाशाली महर्षियों के सदृश तपस्वी सहनशील आदि सद्गुणों से सुशोभित प्राय· वर्त्तमान में कोई नहीं दीख पड़ता, तथापि इस समय में भी आदर्श पुरुषों का सर्वथा लोप नहीं है, आज कल भी अनेक सद्गुणी पुरुष विद्यमान हैं, हॉ इतना तो कहा जा सकता है कि पूर्व समय की अपेक्षा इस समय न्यूनता तो अवश्य है ।

अतएव इस दुःषम समय में जिस पुरुष में

अल्प भी गुण हो तो उसकी हृदय से प्रशंसा करना चाहिये, क्योंकि प्रशंसा से मानसिक दशा पवित्र रहती है, और सद्गुणों की प्रभा बढती है ।

पुरुष चाहे किसी मत के आश्रित क्यों न हो, परन्तु उसमें मार्गानुसारी आदि धार्मिक गुण प्रशंसा के लायक है । पूर्वकालीन इतिहास और जैन शास्त्रों के निरीक्षण करने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि पूर्व समय के विद्वान् गुणानुरागी अधिक होते थे, वे सांप्रदायिक आग्रहों में निमग्न नहीं थे, जैसे कि वर्त्तमान समय में पाये जाते हैं। हरिभद्र और हेमचन्द्र जैसे विद्वत्समाजशिरोमणि आचार्यों ने स्वनिर्मित ग्रन्थों में भी अनेक जगह 'तथा चोक्तं महात्मना व्यासेन' 'तथा चाह महामतिः पतञ्जलिः' 'भगवता महाभाष्यकारेणावस्थापितम्' इत्यादि शब्दों द्वारा पतञ्जलि और वेदव्यास आदि वैदिकाचार्यों की प्रशंसा की है । वास्तव में विद्वान् लोग सत्यग्राही होते हैं, उन्हें जहाँ सत्य देख पड़ता है उसे वे आदर और बहुमान पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं । और जो जितने अंश में प्रशस्य गुणवाला होता है, उतने अंश में उसकी सादर प्रशंसा किया करते हैं । पूर्वाचार्यों के प्रखर पाण्डित्य से आज

समस्त भारत वर्ष आश्चर्यान्वित हो रहा है, यह पाण्डित्य उनमें गुणानुराग से ही प्राप्त हुआ था। जो लोग दोषदृष्टि को छोड़कर गुणानुरागी हो जाते हैं उनकी मानसिक शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि सांसारिक आपत्तियाँ भी उसे बिलकुल नहीं सता सकतीं। जरा जेम्सएलन का वाक्य सुनिये—

"शरीर के रोग दूर करने के लिये, आनन्द्प्रद् और सुखमय विचार से अधिक लाभकारी औषधि कोई नहीं है। शोक और क्लेश को हटाने के लिये नेक विचारों से अधिक प्रभावशाली कोई नहीं है। शत्रुता, और द्वेष–द्रोह के विचारों में निरन्तर रहने से मनुष्य अपने को स्वरचित कारागार में बन्दी कर देता है, परन्तु जो मनुष्य जगत को भला देखता है, तथा जगत में सभी से प्रसन्न है और धैर्य से सबों में भले गुणों को देखने का यत्न करता है, वह निःसन्देह अपने लिये स्वर्ग के पट खोलता है। जो प्रत्येक जन्तु से प्रेम और शान्तभाव के साथ व्यवहार करता है, उसको निःसन्देह प्रेम और शान्ति का कोश मिलेगा।"

"दूसरे के साथ तुम वैसा ही व्यवहार करो

जसा अपने लिये अच्छा समझो । अर्थात् अगर तुम किसी से मीठी बात सुनना चाहते हो तो तुम मीठी बात बोलो, और किसी की गाली नहीं सुनना चाहते हो तो किसी को गाली मत दो । ”

अतएव प्रत्येक व्यक्ति में जो गुण हों उन्हीं का अनुकरण और बहुमान करना चाहिये। “ गुण के अनुकरण की अपेक्षा दोष का अनुकरण करना सुगम है, किन्तु दोष के अनुकरण में हानियाँ कितनी हैं ? इसे भी सोचना चाहिये । दश दोषों का अनुकरण न कर एक गुण का अनुकरण करना अच्छा है, जैसे दोष में अनेक बुराइयाँ भरी हैं वैसे ही गुण में अनेक लाभ हैं ।

चाहे जैन हो या जैनेतर, यदि वह सुशील, सहनशील, सत्यवक्ता और परोपकार आदि गुणों से युक्त हो तो उसको बहुमान देने में किसी प्रकार की दोषापत्ति नहीं है । यद्यपि जो लोग व्यभिचारी, हिंसक और परापवादी हैं उनका बहुमान करना ठीक नहीं है, तथापि निन्दा तो उनकी भी करनी अच्छी नहीं है ।

“ जहाँ द्वेष, निन्दा और अनादर वर्तमान है

वहाँ स्वार्थ रहित प्रेम नहीं रहता, प्रेम तो उसी हृदय में वास करता है जो निन्दा रहित हो। जो मनुष्य ईश्वरीय प्रेम प्राप्त करने का प्रयत्न करता है वह सर्वथा निन्दा करने के स्वभाव को जीत रहा है, क्योंकि जहाँ पवित्र आत्मीय ज्ञान है वहाँ निन्दा नहीं रह सकती। केवल वही मनुष्य सच्चे प्रेम का अनुभव कर सकता है और उसी हृदय में सच्चा और पूर्ण प्रेम रह सकता है, जो निन्दा करने के लिये सर्वथा असमर्थ है।

स्वगच्छ, या परगच्छ के गुणी साधुओं पर अनुराग—

तउ परगच्छि सगच्छे, जे संविग्गा वहुस्सुया मुणिणो।
तेसिं गुणाणुरायं, मा मुंचसु मच्छरप्पहओ ॥ २६ ॥

ततः परगच्छे स्वगच्छे, ये संविग्ना बहुश्रुता मुनयः।
तेषां गुणानुराग, मा मुञ्च मत्सरप्रहत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ–(तउ) इसलिये (परगच्छि सगच्छे) परगच्छ और स्वगच्छ में (जे) जो (संविग्गा) वैराग्यवान् (वहुस्सुया) वहुश्रुत (मुणिणो) मुनि हों (तेसिं) उनके (मच्छरप्पहओ) मात्सर्यहत होकर तूं (गुणाणुरायं) गुणों का अनुराग (मा) मत (मुंचसु) छोड़।

भावार्थ—स्वगच्छ, या परगच्छ में जो वैराग्यवान् और बहुश्रुत (विद्वान्) साधु हों उनके गुणों पर मत्सरी बनकर अनुराग को मत हटाओ।

विवेचन—स्वगच्छ, या परगच्छ में जो जो वैराग्यवान् बहुश्रुत और क्रियापात्र साधु हैं उनके साथ सहानुभूति रखने से ही सामाजिक उन्नाति भले प्रकार हो सकती है। जो लोग गच्छ सवन्धी छोटी छोटी वातों पर वाद विवाद चलाकर राग द्वेष का पोषण करते हैं और एक दूसरे को अवाच्य शब्द कहकर, या लिखकर संतुष्ट होना चाहते हैं वे वास्तव में धार्मिक उन्नाति की सघन नींव का सत्यानाश करते हैं। जव तक गुणिजनों के गुणों का बहुमान न किया जायगा, अर्थात्—संकुचित विचारों को छोड़ कर यथाशक्ति संप्रदायान्तर के गुणिजनों का गुणानुवाद करने का उत्साह न रक्खा जायगा, तब तक उस प्रेम को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना होगा, जो पूर्ण शान्ति और स्वतंत्रता समर्पण करता है।

"हम लोगों के परस्पर जितने व्यवहार हैं, आइने में मुह देखने के वरावर हैं। जैसे—अपने को सामने रख कर हँसोगे तो प्रातिबिम्ब हँसेगा, और रोओगे तो प्रातिबिम्ब रोवेगा। वैसे ही तुम

किसी का उपकार करोगे तो तुम्हारा भी कोई उपकार करेगा, और तुम किसी की हानि करोगे तो वदले मे तुम्हें भी हानि भुगतनी पडेगी। अर्थात् प्रेम करने पर प्रेम, शत्रुता करने पर शत्रुता प्राप्त होगी। किसी को हृदय दोगे तो हृदय पाओगे, और कपट के वदले कपट मिलेगा। तुम हँसकर बोलोगे तो तुम्हारे साथ संसार के लोग हँसकर बोलेंगे और तुम मुंह छिपाओगे तो संसार के लोग तुमसे मुँह छिपावेंगें। दूसरे को सुखी करोगे तो आप भी सुखी होओगे, और दूसरे को दुःख दोगे तो स्वयं दु.ख पाओगे। दूसरे का तुम सम्मान करोगे तो तुम्हारा सम्मान भी लोग करेंगे और दूसरे का अपमान करोगे, तो तुम्हें अपमाननित होना पडेगा। सारांश यह कि जैसा करोगे वैसा ही फल पाओगे।" (चरित्रगठन पृष्ठ ४४)

आजकल के विद्वानों में प्रायः परस्पर सहानुभूति नहीं रक्खी जाती, यदि कोई विद्वान् साधु समाज का सुधार करने में प्रवृत्त है और शिक्षा के क्षेत्र में यथावकाश भाग ले रहा है, तो कई एक साधु मात्सर्य से उसके कार्य में अनेक वाधा पहुँचाने के लिये तैयार हो जाते हैं। कई एक तो

ऐसे हैं कि अन्य गच्छ या संघाटक, अथवा अपने विचार से भिन्न विचार वाले जो गुणी साधु या आचार्य हैं उनकी व्यर्थ निन्दा कर अपने अमूल्य चारित्ररत्न को कलङ्कित करते हैं। चाहिये तो ऐसा कि सभी गच्छवाले परस्पर मिलकर शासन की उन्नति करने में भाग लें, और यथासंभव एक दूसरे को सहायता दें, क्योंकि यथार्थ में सब का मुख्य उद्देश्य एक ही है।

जब से गच्छों के भयानक झगडे खडे हुए और एक दूसरे के कार्य में सहायता देना बन्द हुई, तब से अति विशाल जैन समाज का ह्रास होते होते आज इनागिना समाज दृष्टिपथ में आ रहा है! पारस्परिक कुसंप, गच्छों की वाडाबन्धी और ज्ञातीय संकुचितवृत्ति से जैनियों की संख्या वीस वर्ष में कितनी घट गई है?, इसको जानने के लिये जरा नीचे दी हुई तालिका ध्यान पूर्वक वांचो और मनन करो—

धर्म.	सन् १९०१	सन् १९११	सन् १९२१
सनातनी	२०७०,५०,५५७	२१७,३३७,९४३	२१६,२७०,६२०
आर्यसमाजी	९२,४१९	२४३,४४५	४६७,५७८
ब्रह्मसमाजी	४०५०	५,५०४	६,७८८
सिक्ख	२,१९५,३३९	३०,१४,४६६	९,२३८,८००

जैन	१३७४,१४८	१२४८,१८२	११७८,५९६
वौद्ध	९,४७६,७५९	१०,७२१,४५३	११,५७१,२६८
पारसी	९४,१९०	१०००९६	१०१,७७८
मुसलमान	६१४५८०७७	६६,६४७,२९९	६८,७३५२३३
खिस्ती	२९२३,२४१	३,८७६,२०७	४,७०४०६४
उफलिया	८,५८४,१४८	१०,२९५,१६८	९,७७४,६११
नाना सम्प्रदायवाले	१२९,८००	१३७,१०१	१८००४

सन् १९०१ की मर्दुमशुमारी के वाद के वीस वर्षों में आर्यसमाजी पौने चार लाख, बौद्ध अन्दाजन एकवीस लाख, मुसलमान पौने त्रेसठ लाख, और क्रिश्चियन अठारह लाख बढे। इसी तरह इतर धर्मावलम्बियों की भी ऊपर की तालिका में वृद्धि हुई मालूम पडती है। परन्तु एक जैन कोम ही कमनसीव है कि जो गत वीस वर्षों में दोढ़ लाख से कुछ अधिक घट गई। इस कमी का कारण संकुचितवृत्ति के सिवाय दूसरा कोई नहीं है। अगर अव भी इस कमी पर ध्यान न दिया जायगा तो भविष्य में इससे भी अधिक कमी होने में कोई आश्चर्य नहीं है। आज कई एक वणिक् जातियाँ ऐसी मौजूद हैं जो पूर्व समय में जैनधर्म पालन करती थीं, लेकिन इस समय वे वैष्णव धर्म पालन कर रही हैं।

इतिहास, धर्मग्रन्थ और जीवनचरित्रों पर दृष्टि

डालने से मालूम होता है कि वडे वडे महात्मा और महापुरुषों ने जो जो सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक महत्कार्य किये हैं, वे परस्पर सहानुभूति रखकर ही किये हैं, ईर्ष्या द्वेष वढाकर तो किसी ने नहीं किया। अतएव दोषदृष्टि को छोडकर सब को गुणप्रेमी बनना चाहिये।

यदि भिन्न भिन्न गच्छों की सत्यता, या असत्यता पर कभी विचार अथवा लेख लिखने की आवश्यकता हो तो उसमें शान्ति या मधुरता के विरुद्ध कार्य करना अनुचित है। जिसके वचन में शान्ति और मधुरता की प्रधानता है उसका वचन दुनिया में सर्वसाधारण मान्य होता है। इसी पर विद्वान् 'जेम्सएलन' ने लिखा है कि–

" शान्त मनुष्य आत्मसंयम का अभ्यास करके अन्य पुरुषों में अपने को मिला सकता है, और अन्य पुरुष भी उसकी आत्मिक शक्ति के आगे शिर झुकाते हैं, उसको श्रद्धा से देखते हैं और उनको अपने आप ही भासमान होने लगता है कि वे उससे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और उसपर विश्वास कर सकते हैं। मनुष्य जितना ही अधिक शान्त होगा उतना ही अधिक वह सफल मनोरथ

होगा, और उतना ही अधिक उसका प्रभाव भी बढ़ेगा तथा उतनी ही अधिक उसको भलाई करने की शक्ति होगी।" चरित्रसंगठन में भी कहा है कि–

"जो लोग मधुर वचन बोलते है और जो उसे सुनते है, दोनों ही के हृदय में शान्ति सुख प्राप्त होता है, मन में पवित्र भाव का उदय होता है, और आत्मा तृप्त होती है।

मधुरभाषी लोग सबके प्यारे होते है, और जहाँ मीठी बातें बोली जाती है वहाँ की हवा मधुमय हो जाती है। इसलिये एक मधुरभाषी व्यक्ति सैकडों के सुख का कारण होता है तथा मधुर वचन के सुननेंवालों को दुःख, शोक, शोच, और विषाद की सभी बातें भूल जाती है।"

अतएव स्वधर्म के सत्य मन्तव्य प्रकाशित करने, या दूसरों को समझाने में शान्ति और मधुर-शब्दों को अग्रगण्य बनाना चाहिये और किसी की भी निन्दा नहीं करना चाहिये। समाजी, या गच्छों के प्रतिष्ठित पुरुषों के गुणों की प्रशंसा ही निरन्तर करना चाहिये, किन्तु उनके साधारण दोषों पर दृष्टिपात करना अच्छा नहीं है। जो मन में गर्व नहीं रखते, और किसी की निन्दा नहीं

करते, तथा कठोर वचन नहीं कहते, प्रत्युत दूसरों की कही हुई अप्रिय बात को सह लेते हैं, और क्रोध का प्रसंग आने पर भी जो क्रोध नहीं करते तथा दूसरों को दोषी देख कर भी उनके दोष को न उघाड कर यथासाध्य उन्हें दोष रहित करने की चेष्टा करते हुए स्वयं द्वेषजनक मार्ग से दूर रहते हैं, वे पुरुष अवश्य अपना और दूसरों का सुधार कर सकते हैं, और उन्हीं से धार्मिक और सामाजिक उन्नति भले प्रकार हो सकती है। इस लिये स्व-गच्छ या परगच्छस्थित गुणी मुनिजनों को प्रेम दृष्टि से देखना सीखो, जिससे कि आत्मा पवित्र बने।

गुणों के बहुमान से गुणों की सुलभता–

गुणरयणमंडियाणं, बहुमाणं जो करेइ सुद्धमणो।
सुलहा अन्नभवम्मि य, तस्स गुणा हुंति नियमेणं।२७।

(गुणरत्नमण्डितानां, बहुमानं यः करोति शुद्धमनाः।
सुलभा अन्यभवे च, तस्य गुणाः भवन्ति नियमेन ॥२७॥)

शब्दार्थ–(य) और (जो) जो पुरुष (सुद्ध-मणो) पवित्र मन होकर (गुणरयणमंडियाणं) गुणरूप रत्नों से सुशोभित पुरुषों का (बहुमाणं) बहुमान–आदर (करेइ) करता है (तस्स) उसके (गुणा)

गुण (अन्नभवम्मि) दूसरे भव में (नियमेणं) निश्चय से (सुलहा) सुलभ (हुंति) होते हैं।

भावार्थ–जो पुरुष गुणवान् पुरुषों का शुद्ध मन से बहुमान करता है उसे सद्‌गुण दूसरे भव में नियम से सुलभ होते हैं, अर्थात्–सुगमता से मिलते हैं।

विवेचन–जितनी शोभा सद्‌गुणों से होती है उतनी बाह्य आभूषण, वस्त्र आदि से नहीं हो सकती। यद्यपि संसारगत मनुष्य शरीर शोभा के लिये उत्तम उत्तम प्रकार के रत्न और मुक्ताओं से जड़े हुए हार आदि अलंकार धारण करते हैं और सुन्दर सुन्दर कोट पाट-लून आदि पहनते हैं किन्तु उनसे उनकी वास्तविक शोभा उतनी नहीं होती, जितनी कि सद्‌गुणी पुरुषों की होती है। संसार में रत्न सब से अधिक बहुमुल्य होता है, लेकिन गुणरूप रत्न तो उससे भी अधिक महर्घ्य है। यहाँ तक कि रत्नों का मूल्य तो अंकित हो सकता है परन्तु गुणरूप रत्नों का मूल्य अंकित नहीं हो सकता। गुणहीन मनुष्य शोभा के क्षेत्र से बहिष्कृत है, उसे शोभा और मान किसी स्थान पर नहीं प्राप्त होता। जरा नीचे के दृष्टान्त पर दृष्टिपात करिये––

किसी समय धारानगरीपति भोजनृपतिने अपनी सभा के शृङ्गारभूत और सर्वशास्त्र–विचारविचक्षण पाँचसौ पण्डितों से यह प्रश्न पूछा कि–' संसार में जो गुणहीन पुरुष हैं, उन्हें किस के समान समझना चाहिये ? ' तब उनमें से धनपाल पण्डित ने यह कहा कि–

" येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥ १ ॥ "

भावार्थ–जिनके विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण और धर्म नहीं हैं वे पुरुष मर्त्यलोक में इस पृथ्वी पर भारभूत हैं और मनुष्यरूप से मृग के सदृश विचरते हैं। अर्थात् जो लोग संसार में अवतार लेकर विद्या नहीं पढते, अथवा तपस्या नहीं करते, किंवा हीन दीन और दुःखियों को सहायता नहीं देते, एवं आचार विचार और वीर्यरक्षा नहीं करते, तथा सहनशीलता आदि सद्गुण नहीं धारण करते और आत्मधर्म में नहीं रमण करते, उनको यथार्थ में मनुष्य आकार में मृग ही समझना चाहिये। जिस प्रकार मृग घास खा कर अपने जीवन को पूरा करता है, वैसे ही गुणहीन मनुष्य भी खा पीकर अपने अमूल्य और दुष्प्राप्य जीवन को खो देता है।

पंडितों की बात सुनकर किसी दूसरे पण्डित ने मृग का पक्ष लेकर कहा कि—सभा में नीति विरुद्ध बोलना बिलकुल अनुचित है। निर्गुणी मनुष्य को मृग सदृश समझना भारी भूल है, क्योंकि मृगों में तो अनेक प्रशस्य गुण होते हैं। देखिये—गायन सुनानेवालों को शिर, लोगों को मांस, ब्रह्मचारियों को चर्म, योगियों को सींग, मृग लोग देते हैं और स्त्रियों को उनके ही नेत्रों की उपमा दी जाती है, इसी से स्त्रियाँ 'मृगाक्षी' कहलाती हैं। तथा मृगों की कस्तूरी उत्तम कार्यों में काम आती है, और बलपुष्टि के लिये सहायक होती है। अत एव कितने ही उपदेशक कहते हैं कि—

" दूर्वाङ्कुरतृणाऽऽहाराः, धन्यास्ते वै वने मृगाः।
विभवोन्मत्तमूर्खाणां, न पश्यन्ति मुखानि ये ॥१॥ "

भावार्थ—वे नवीन दूर्वा के अङ्कुर और घास खानेवाले वन में मृग धन्य हैं जो धन से उन्मत्त मूर्खों के मुख नहीं देखते। अर्थात्—जो धर्मकार्य में धन नहीं खर्च करते और अभिमान में उन्मत्त रहते हैं उनसे अरण्यस्थित घास खानेवाले मृग ही ठीक हैं जो कि वैसे पापीजनों का मुँह नहीं देखते।

अतएव निर्गुणी मनुष्यों को मृग के समान नहीं समझना चाहिये। तब धनपाल ने विचार करके कहा कि—जब ऐसा है तो निर्गुणी मनुष्यों को—'मनुष्यरूपाः पशवश्चरन्ति' मनुष्यरूप से पशु सदृश कहना चाहिये। तदनन्तर प्रतिवादी पण्डित ने पशुओं में से गौ का पक्ष लेकर कहा कि—यह बात भी बिलकुल अनुचित है, सभ्यसभा में ऐसा कहना नीति विरुद्ध है। क्योंकि—

"तृणमत्ति राति दुग्धं, छगणं च गृहस्य मण्डनं भवति।
रोगापहारि मूत्रं, पुच्छं सुरकोटिसंस्थानम् ॥ ३ ॥"

भावार्थ—गौ तृण (घास) खाती है, और अमृत के समान मधुर दूध और छगन (छाणा) देती है, तथा गौ से घर की शोभा होती है, गौ का मूत्र रोगियों के रोग का नाश करता है, और गौ की पुच्छ, कोटियों देवताओं का स्थान समझा जाता है।

गौ का दर्शन भी मंगलकारक है, संसार में प्रायः जितने शुभ कार्य हैं उनमें गौ का दूध, दही और घी सर्वोत्तम है। अतएव निर्गुणी पुरुष गौ के समान क्यों कहा जाय ?। तदनन्तर वृषभ का भी पक्ष लेकर कहा—

" गुरुशकटधुरन्धरस्तृणाशी,
समविषमेषु च लाङ्गलापकर्षी ।
जगदुपकरणं पवित्रयोनि—
र्नरपशुना किमु मीयते गवेन्द्रः ? ॥४॥

भावार्थ—वृषभ बडे बडे गाड़ों की धुरा धारण करता है, घास खाता है, सम और विषम भूमिपर हल को खींचता रहता है, खेती करने में तन-तोड़ सहायता देता है, अतएव पवित्रयोनि गवेन्द्र (वृषभ) के साथ नरपशु की समानता किस प्रकार हो सकती है ?

इन सभी पशुओं के गुण सुनकर धनपाल पण्डित ने कहा कि—गुणहीन पुरुषों का जो प्रत्येक वस्तु का साराऽसार समझने और विचार करने में शून्य हैं। उनको 'मनुष्यरूपेण शुनः स्वरूपाः' मनुष्यरूप से कुत्ते के समान गिनना चाहिये। उसपर फिर प्रतिवादी ने कुत्ते का पक्ष लेकर कहा कि—

" स्वामिभक्त. सुचैतन्यः, स्वल्पनिद्रः सदोद्यमी ।
अल्पसन्तोषो वाक्शूरः, तस्मात्तत्तुल्यता कथम् ?।५।"

भावार्थ—जो खाने को देता है उसका कुत्ता भक्त होता है. खटका होते ही जागता है, थोडी निंद

लेता है, नित्य उद्यमशील है, थोडा भोजन मिलने पर भी सन्तोष रखता है, और वचन का शूर वीर है, तो निर्गुणी की तुल्यता कुत्ते से किस तरह की जा सकती है ?

कुत्ते जिनके हाथ दान रहित, कान धर्मवचन सुनने से शून्य, मुख्य असत्योद्गार से अपवित्र, नेत्र साधुदर्शन से रहित, पैर तीर्थमार्गगत रज से रहित और अन्यायोपात्त द्रव्य से उदर अशुचि है; उनका मांस नहीं खाते तथा शुभाऽशुभसूचक चिन्ह करते रहते हैं, इत्यादि अनेक गुण कुत्तोंमें विद्यमान हैं।

तब पंडित ने कहा कि—तो निर्गुणपुरुषों को 'मनुष्यरूपेण खराश्चरन्ति' मनुष्यरूप से गर्दभ जानना चाहिये। इसपर फिर प्रतिवादी ने गर्दभ का भी पक्ष लेकर कहा कि—

शीतोष्णं नैव जानाति, भारं सर्वं दधाति च।
तृणभक्षणसन्तुष्टः, प्रत्यहं भद्रकाऽऽकृतिः ॥ ६ ॥

भावार्थ—गर्दभ शीत और उष्णता की परवाह न कर सब भार को वहन करता है और तृणभक्षण से ही निरन्तर प्रसन्नवदन बना रहता है।

प्रयाण समय में गर्दभ का शब्द मांगलिक

समझा जाता है. जो कोई उसके शब्दशकुनों का विचार कर कार्य करता है वह सफलता प्राप्त करता है। इसलिये गुणहीनों को उसके समान मानना अनुचित है।

तब पण्डित ने कहा कि–गुणहीन पुरुषों को 'मनुष्यरूपेण भवन्ति चोष्ट्राः' मनुष्यरूप से ऊँट समझना चाहिये। किन्तु प्रतिवादी ऊँट का भी पक्ष ग्रहणकर कहने लगा कि–

वपुर्विषमसंस्थानं, कर्णज्वरकरो रवः।
करभस्याशुगत्यैव, छादिता दोषसंहतिः ॥ ७ ॥

भावार्थ–यद्यपि प्रत्येक अवयव टेढ़े होने से ऊँट का शरीर विषम संस्थान (आकार) वाला है और कानों को ज्वर चढानेवाला उसका शब्द है, लेकिन एक शीघ्रचाल से उसके सभी दोष आच्छादित हैं।

क्यों कि–संसार में शीघ्रचाल भी उत्तम गुण है, जो चाल में मन्द (आलसू) है उसका कार्य भी शिथिल समझा जाता है। यद्यपि सब जगह सब चालों से कार्य किया जाता है तथ पि हरएक कार्य में प्रायः शीघ्रचाल की अधिक आवश्यकता रहती है। और ऊँट रखने के लिये भी स्वामी को

अधिक तकलीफ नहीं देता, सामान्य भोजन से ही सन्तुष्ट रहता है। गुणहीन मनुष्यों से तो ऊँट लाखदर्जे अधिक है।

तब पण्डित धनपाल ने कहा कि-गुणहीनों को 'मनुष्यरूपेण भवन्ति काकाः' मनुष्य आकार से कौओं के समान जानना चाहिये। प्रतिवादी ने फिर काक का भी पक्ष लेकर कहा कि-

प्रियं दूरगतं गेहे, प्राप्तं जानाति तत्क्षणात्।
न विश्वसिति कस्यापि, काले चापल्यकारकः॥ ८॥

भावार्थ-दूर विदेश में गया हुआ प्रिय पुरुष जब घर की तरफ आनेवाला होता है तो उसे काक शीघ्र जान लेता है, किसी का विश्वास नहीं रखता, और समयपर चपलता धारण करता है उसकी समता मूर्ख कैसे कर सकता है?

किसी युवती ने एक वायस को स्वर्णमय पींजर में रख के, गृहांगणस्थित वृक्ष पर टाँग रखा था। उसकी सखीने पूछा कि-संसार में मेना, शुक आदि पक्षियों को लीला के लिये लोग रखते हैं किन्तु वायस तो कोई नहीं रखता, नीच पक्षियों से कहीं गृहशोभा हो सकती है?, युवती ने कहा कि-

अत्रस्थः सखि! लक्षयोजनगतस्यापि प्रियस्याऽऽगमे,
वेत्त्याख्याति च धिक् शुकादय इमे सर्वे पठन्तः शठाः।
मत्कान्तस्य वियोगरूपदहनज्वालावलेश्चन्दनं,
काकस्तेन गुणेन काञ्चनमये व्यापारित. पञ्जरे ॥ १ ॥

भावार्थ—सखि! उन शुकादि सब पक्षियों को धिक्कार है जो केवल मधुर बोलने में ही चतुर हैं। मेरे स्वामी के 'वियोग' रूप अग्निज्वाला को शान्त करने में चन्दनवत् यह वायस (कौआ) ठीक है जो यहाँ से लक्षयोजन गये हुए पति के गृहागमन को जानता और कहता है। इसी गुण से यह कांचनमय पिंजर में रक्खा गया है।

तदनन्तर धनपाल पण्डित ने कहा तो गुणहीन को 'मनुष्यरूपेण हि ताम्रचूडा.' ऐसा कहना ही ठीक होगा। उसपर वादी ताम्रचूड़ (मुर्गे) का पक्ष लेकर बोला कि—आप का कहना ठीक नहीं, क्यों कि ताम्रचूड उपदेशक का काम देता है, वह पिछली रात्रि में दो दो चार चार घड़ी के अनन्तर अपनी गर्दन को ऊँची कर के कहता है कि—

"भो लोका.! सुकृतोद्यता भवत वो लब्ध भव मानुष।
मोहान्धा. प्रसरत्प्रमादवशतो माऽहार्यमाहार्यताम् ॥"

अहो लोगो ! तुम्हें मनुष्य अवतार मिला है, सुकृत कार्य करने में उद्यत हो, मोहान्ध बन कर प्रमादवश से सुरक्ष्य मनुष्य भव को व्यर्थ न गमाओ।

कुक्कुट के वचन को सुनकर कई एक पारमेश्वरीय-ध्यान में, कितने एक विद्याभ्यास में, और प्रभु भजन में लीन हो मनुष्य जीवन को सार्थक करते हैं। अतएव उसे गुणहीनों के समान न समझना चाहिये।

पण्डित ने कहा तो गुणहीन 'मनुष्यरूपाः खलु माक्षिकाः स्युः' मनुष्यरूपवाला माक्षिका समान है। उसपर भी वादी ने मक्खी का पक्ष लेकर कहा कि—

सर्वेषां हस्तयुक्त्यैव, जनानां बोधयत्यसौ।
ये धर्मं नो करिष्यन्ति, घर्षयिष्यन्ति ते करौ ॥९॥

भावार्थ—सब लोगों को हाथ घिसने की युक्ति से माक्षिकाएँ निरन्तर उपदेश करती हैं कि—जो धर्म नहीं करेंगे वे इस संसार में हाथ घिसते रहेंगे।

निर्गुणी मनुष्य तो उपकार शून्य है, माक्षिकाएँ तो सब का उपकार करती हैं। उनका मधु अमृत के समान मीठा, रोगनाशक और बलवर्द्धक है, इस लिये गुणहीन माक्षिका के समान भी नहीं हो सकता।

तव धनपाल पण्डित ने कहा तो गुणहीन 'मनुष्यरूपेण भवन्ति वृक्षाः' मनुष्यरूप से वृक्ष सदृश होते हैं। प्रतिवादी ने वृक्षों का भी पक्ष लेकर कहा कि--

छायां कुर्वन्ति ते लोके, ददते फलपुष्पकम्।
पक्षिणां च सदाधाराः, गृहाऽऽदीनां च हेतवः ॥१०॥

भावार्थ--वृक्ष लोक में छाया करते है, फल पुष्प आदि देते हैं, और पक्षियों के घर उनके आधार से रहते हैं और मकान आदि बांधने में वृक्ष हेतुभूत है।

उष्णकालसंवन्धि भयकर ताप, चौमासा में भूमि की वाफ और जलधारा से हुई वेदना, जंगल में सर्वत्र फैली हुई दावानल की पीड़ा और छेदन भेदन आदि दुःखों को वे सहकर भी दूसरो के लिये सुस्वादु और मिष्ट फल देते है। भिन्न भिन्न रोगों की शान्ति के लिये जितने अवयव वृक्षों के काम आते है उतने किसी के नहीं आते। संजीविनी और कुष्टविनाशीनी आदि गुटिका वृक्षों की जाति से ही वनाई जाती है। उत्तम उत्तम वाद्यों का आनन्द वृक्षों के द्वारा ही होता है, तो गुणहीन को वृक्ष के समान मानना नीति विरुद्ध है।

तदनन्तर धनपाल ने कहा तो गुणहीनों को 'मनुष्यरूपेण तृणोपमानाः' मनुष्यरूप से तृण के सदृश कहना चाहिये। तदनन्तर वादी ने तृण का पक्ष अवम्बन कर के कहा कि–

गवि दुग्धं रणे ग्रीष्मे, वर्षाहेमन्तयोरपि।
नृणां त्राणं तृणादेव, तत्समत्वं कथं भवेत्?॥११॥

भावार्थ–गोजाति में दूध होता है, संग्राम, वर्षा और हेमन्त ऋतु में तृण से ही मनुष्यों का रक्षण होता है। ये गुण गुणहीन पुरुष में नहीं हैं इससे वह तृण के समान कैसे हो सकता है?

संसार में सभी प्राणियों का पालन तृण करता है, यदि एक ही वर्ष तृण पैदा नहीं होता तो असंख्य प्राणियों के प्राण चले जाते हैं। मंदिर आदि जितनी इमारतें हैं वे तृण की सहायता से ही बनती हैं. यदि तृण न हो तो अमृत के समान मधुर दूध दही भी मिलना कठिन है।

विद्वान् धनपाल ने कहा तो 'मनुष्यरूपेण हि धूलितुल्याः' मनुष्यरूप से धूलि समान मानना ठीक होगा।

वादि ने धूलि का भी पक्ष लेकर कहा कि–

कारयन्ति शिशुक्रीडां, पङ्कनाशं च कुर्वते ।
रजस्तात्कालिके लेखे, क्षिप्तं क्षिप्रं फलप्रदम् ॥१२॥

भावार्थ–बालकों को लीला कराना, कीचड को नाश करना, तत्कालिक लेख में स्याही सुखाने के लिये डाला हुआ रज (धूलि) शीघ्र फलदायक होता है । ये चार गुण धूलि में महत्त्वशाली हैं, अतएव गुणहीन धूलि तुल्य भी नहीं हो सकता ।

अन्त मे अगत्या पण्डित धनपाल ने यह निर्धारित किया कि–संसारमण्डल मे प्रत्येक वस्तु गुणों से शोभित है किन्तु गुणहीन मनुष्य किसी प्रकार शोभा के क्षेत्र मे प्रवेश नही कर सकता। इस लिये हरएक मनुष्य को गुणरूप रत्न संग्रह करने मे उद्यत रहना चाहिये, और जो गुणी है उनका यथाशक्ति बहुमान करना चाहिये ।

" आत्मिक उन्नति केवल पवित्र तथा महत्वाकांक्षाओ से होती है। वह मनुष्य जो निरन्तर उच्च और उन्नत विचारों मे भ्रमण करता है, जिनके हृदय, आत्मा और मन में सर्वदा शुद्ध और निःस्वार्थ विचार भरे रहते हैं, नि.सन्देह वह मध्याह्नस्थ

सूर्य के भाँति जाज्वल्यमान, और पूर्णिमा के सुधाकर की भाँति माधुर्यपूर्ण होता है। वह ज्ञानवान् और सदाचारी हो कर उस स्थान को प्राप्त करता है जहाँ से वह संसार में बडा प्रभावशाली प्रकाश डालता, और अमृत की वर्षा करता है।"

" विना स्वार्थ-त्याग के किसी प्रकार उन्नति और किसी तरह की सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य को सांसारिक विषयों में भी उसी अनुसार सफलता होगी जिस अनुसार वह अपने विकारयुक्त, डाँवाडोल तथा गड़बड़ पाशविक विचारों का संहार करेगा और अपने मनको अपने प्रयत्नों और उपायों पर स्थिर करेगा और अपने प्रण को दृढ़ता प्रदान करता हुवा स्वावलम्बी होगा। वह अपने विचारों को जितना ही उन्नत करता है उतनी ही अधिक मनुष्यता, दृढ़ता और धर्म्म-परायणता प्राप्त करता है और उस की सफलता भी उतनी ही श्लाघनीय होती है। ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य की उन्नति चिरकाल तक स्थिर रहती है और वह धन्य होता है।"

पाठकमहोदय ! ऊपर जो विद्वद्गोष्ठी लिखी गई है उसका सार यही है कि-मनुष्यमात्र की

शोभा सद्गुणों से होती है, अतएव सद्गुणी वनने का उद्योग करते रहना चाहिये। यदि गुण संग्रह करने की असमर्थता हो तो शुद्ध मन से गुणवानों का भक्ति बहुमान करना चाहिये। ऐसा करने से भी भवान्तर मे सद्गुण सुगमता से मिल सकेंगे। यह वात शास्त्र सिद्ध है कि–जो भला या वुरा करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। अगर भलाई करेगा तो भलाई, और वुराई करेगा तो वुराई मिलेगी। कथानुयोग के ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट जान पडता है कि–प्रत्येक व्यक्ति का जैसा आचरण होता है वैसा ही फल भवान्तर में, अथवा भवान्तर में किया हुआ इस भव में मिलता है। अर्थात्–जो सदाचारी, गुणानुरागी और सुशील होगा तो भवान्तर में भी वैसा होगा, और दुराचारी, परापवादी होगा तो उसके अनुसार वह भवान्तर में भी दुराचार प्रिय होगा। क्योंकि–सदाचारी और सदाचारप्रशंसक दोनों शुभगति, तथा दुराचारी और दुराचारप्रशंसक दोनों अशुभगति के भाजन हैं।

हरएक पुरुष, या स्त्री को इतना अवश्य जान लेना चाहिये कि–गुणरत्नविभूषित पुरुषों का जितना

वहुमान किया जाय, वह शुद्ध मन से करना चाहिये। क्योंकि–मनःशुद्धि के विना आत्मवल का साधन भले प्रकार नहीं हो सकता. चाहे जितना तप, जप, समायिक, प्रतिक्रमण, पूजा, यात्रा, देवदर्शन, केशलुंचन, मौनव्रत आदि धार्मिक कार्य किया जाय, किन्तु उनका वास्तविक फल मनःशुद्धि हुए विना नहीं मिल सकता। जिस प्रकार शारीरिक वल वढ़ाने के लिये वलवर्द्धक पदार्थ उदरास्थित मल को साफ किये विना कार्यकारी नहीं होते, उसी प्रकार मन की मलिनता दूर किये विना आत्मवल की सफलता नहीं होती। कहावत है कि–'मन चङ्गा तो कथरोट में गङ्गा।'

वास्तव में महात्मा और आदर्श पुरुप वनना कोई दैवी घटना नहीं है और न किसी दूसरे की कृपा का फल है, किन्तु वह अपने ही विचारों के ठीक ठीक पथ पर ले चलने के लिये किये गये निरन्तर प्रयत्न का स्वाभाविक फल है। महान् और आदरणीय विचारों को हृदय में स्थान देने से ही कोई कोई महात्मा हुए हैं, इसी तरह दुष्ट और राक्षस भी अपने ही दुष्ट, निकृष्ट और राक्षसी विचारों के फल हैं।

ऐसा समझकर भवान्तर में सद्गुणों की सुलभता होने के लिये मलिन विचारों को हटाकर शुद्ध मन से गुणी पुरुषों का बहुमान करने में प्रयत्न शील रहना चाहिये और उत्तमता की सीढी पर जितना चाहिये, उतना चलते न बने तो धीरे धीरे आगे बढ़ने का उत्साह रखना चाहिये। क्योंकि जो गुणी होने का प्रयत्न करता रहता है वह किसी दिन गुणी बनेगा ही।

उपसंहार और गुणानुराग का फल--

एयं गुणाणुरायं, सम्मं जो धरइ धरणिमज्झंमि।
सिरिसोमसुंदरपयं, पावइ सव्वनमणिज्जं ॥ २८ ॥

एत गुणाणुराग, सम्यग् यो धारयति धरणिमध्ये।
श्रीसोमसुन्दरपदं, प्राप्नोति सर्वनमनीयम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ–(धरणिमज्झंमि) पृथ्वी पर रहकर (जो) जो पुरुष (सम्मं) अच्छी तरह (एयं) इस प्रकार के (गुणाणुरायं) गुणानुराग को (धरइ) धारण करता है, वह (सव्वनमणिज्जं) सब के वन्दन करने योग्य (सिरिसोमसुदरपयं) श्रीसोमसुन्दर–तीर्थङ्कर पद को (पावइ) पाता है।

भावार्थ–जो पुरुष गुणानुराग को उत्तम प्रकार

से अपने हृदय में धारण करता है, वह सर्वनमनीय सुशोभ्य श्रीतीर्थङ्कर पद को पाता है।

विवेचन–भले विचार और कार्य सर्वदा भलाई ही उत्पन्न करते हैं, तथा बुरे विचार और कार्य सर्वदा बुराई ही उत्पन्न करते हैं। इसका अर्थ यह है कि गेहूँ का बीज गेहूँ उत्पन्न करता है और जौ का जौ। मनुष्य को यह नियम अच्छी तरह समझना चाहिये और तदनुसार ही कार्य में प्रवृत्त होना चाहिये। परन्तु संसार में विरले ही इस नियम को समझते होंगे, इसलिये उन का जीवन सर्वदा असफल ही होता है। (मनुष्यविचार पृष्ट १६)।

जो भले विचारों को हृदयङ्गम कर गुणानुराग रखते हैं, और उत्तमपथगामी बन गुणोपार्जन करने में लगे रहते हैं उन्हें उपकार परायण उत्तम पद मिलने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। संसार में आदर्श–पुरुष बन जाना यह गुणानुराग का ही प्रभाव है। हर एक व्यक्ति गुण से महत्वशाली बन सकता है, जिसमें गुण और गुणानुराग नहीं है वह उत्तम बनने के लिये अयोग्य है। निन्दा करने से गुण और पुण्य दोनों का नाश होता है और गुणानुराग से वृद्धि होती है। परनिन्दा, आत्मप्र-

शंसा, लोलुपता, विपय और कषाय इन पॉच वातों से साधुधर्म भी नष्ट होता है, तो दूसरे गुण नष्ट हों इसमें आश्चर्य ही क्या है। जिस प्रकार एक ही सूर्य सारे संसार में प्रकाश करता है और चन्द्रमा अपनी अमृत किरणो से सव को शीतलता देता है उसी प्रकार गुणानुरागी पुरुप अकेला ही अपने हार्दिक–प्रेम से समस्त पृथ्वी मंडल को अपने वश में कर सकता है और दूसरों को भी उत्तमपथ पर पहुॅचा सकता है। अतएव हर एक मनुष्य को चाहिये कि–अपने स्वभाव को गुणानुरागी वनावे और नीचे लिखी हुई शिक्षाओं को अपने हृदय में धारण करने का प्रयत्न करे।

शिक्षासुधा—

१ सज्जनों के साथ वैठना चाहिये, सज्जनों की संगती मे रहना चाहिये और सज्जनों के ही साथ विवाद करना चाहिये। दुर्जनों से किसी प्रकार का संपर्क (सहवास) नहीं करना चाहिये।

२–यदि सज्जनो के मार्ग पर जितना चलना चाहिये उतना नहीं चलते वने तो थोडा ही थोड़ा चलकर आगे वढ़ने की कोशीस करो, रास्ते पर जव पॉव रक्खोगे तव सुख मिले ही गा।

३-मनुष्य को प्रतिदिन अपने चरित्र की आलोचना (विचार) करते रहना चाहिये और यह सोचना चाहिये कि-मेरा आचरण (व्यवहार) पशु के तुल्य है किं वा सत्पुरुष के सदृश।

४-जैसे घिसने, काटने, तपाने और पीटने; इन चार बातों से सोने की परीक्षा होती है वैसे ही विद्या, स्वभाव, गुण, और क्रिया; इन चार बातों से पुरुषों की जाँच होती है।

५-सच्चरित्र पुरुष का संक्षिप्त लक्षण इतना ही है कि-उसमें सत्यप्रियता, शिष्टाचार, विनय, परोपकारिता और चित्त की विशुद्धता, ये गुण पाये जाँय, शेष जितने गुण हैं वे इन्हीं के अन्तर्गत (अन्दर रहे हुए) हैं।

६-लोग अच्छे व्यवहार से मनुष्य और बुरे व्यवहार से पशुओं के तुल्य गिने जाते हैं। तुम यदि उदार, परोपकारी, विनयी, शिष्ट, आचारवान् और कर्त्तव्य-परायण होगे तो संसार के सभी लोग तुम्हें मनुष्य कहेंगे और तुम भी तब समझोगे कि-मनुष्यता किसको कहते हैं?।

७-सुशीलता, उच्चाभिलाष, अपने विभव के अनुसार भोजन, वस्त्र और भूषण का व्यवहार,

दुर्जनों की संगति, अपनी प्रशंसा और पराये की निन्दा से विरत रहना, सज्जनों के वचन का आदर करना, सदा सत्य वोलना, किसी जीव को दुःख न पहुँचाना, सव प्राणियों पर दया करना; ये सव सुजनता के लक्षण हैं।

८–संसार में जितने वड़े वड़े साधु, महात्मा, धार्मिक, योगी और कर्मकांडी आदि हुए हैं, जो अपने अपने निर्मल चरित्र के प्रकाश से मानव–समाज को उज्ज्वल कर गये है, वे सभी निःस्वार्थ और ऐश्वरीय–प्रेम संपन्न थे।

९–जिन लोंगो ने वचपन में सौजन्य–शिक्षा का लाभ नहीं लिया, जो लोग सौजन्य–प्रकाश करने का संकल्प करके भी अपने कठोर स्वभाव के दोष से अशिष्ट व्यवहार कर वैठे है, वे लोग साधारण कामों में शिष्टाचारी होने का अभ्यास करते करते अन्त में शिष्ट और सुशील हो सकते हैं।

१०–जो स्वभाव के चञ्चल है, वे गंभीरभाव का अभ्यास करते गंभीर वन सकते हैं। उसी प्रकार जो गंभीर प्रकृति के मनुष्य है, वे वाचाल

वन्धु-समाज में रह कर उन लोगों के मनःसन्तोषार्थ वाचालता का अनुकरण करते करते स्वभावतः वाचाल हो सकते हैं।

११-चिर काल तक आशिष्ट-व्यवहार से हृदय की कोमलता के नष्ट हो जाने पर भी कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि-अशिष्ट लोगों के संसर्ग की अपेक्षा शिष्टाचारी, विनयी सज्जन की संगति में विशेष सुख नहीं है।

१२-अपने जीवन को सुखी वनाने के लिये अनेक उपाय हैं, उनमें शिष्ट व्यवहार भी यदि एक उपाय मान लिया जाय और इससे दूसरी कोई उपकारिता न समझी जाय तो भी सुजनता की शिक्षा नितान्त आवश्यक है। सामान्य सुजनता से भी कभी कभी लोगों का विशेष उपकार हो जाता है।

१३-कठोर वातें वोलना, दूसरों के आनिष्ट-साधन में प्रवृत्त होना, निर्दयता का काम करना और अहङ्कार दिखलाना आशिष्टता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अयुक्त रीति से जो शिष्टता दिखलाई जाती है उसे भी लोग निंदनीय समझते हैं।

१४–दृढप्रतिज्ञा, अध्यवसाय, आत्मवश्यता और उद्योगपरता से मनुष्य क्या नहीं कर सकता। जब तुम बराबर परिश्रम करते रहोगे, तब जो काम तुम्हें आज असाध्य जान पड़ता है वह कल सुसाध्य (सहल) जान पड़ेगा।

१५–दूसरे की उन्नति देखकर हृदय मे विद्वेषभाव का उदय होना अत्यन्त गर्हित है। जो उच्च हृदय के मनुष्य हैं उनके हृदय में ऐसा विद्वेष कभी उत्पन्न नहीं होता। वे गुण का ग्रहण करते हैं, दोषों का त्याग करते हैं और जिससे उन्हें कल्याण की आशा होती है उसका आदर करते हैं और जिससे अमंगल होने की संभावना होती है उससे विरत रहते हैं, महान् पुरुषों का यही वास्तविक कर्त्तव्य है।

१६–जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए यथासाध्य दूसरे का उपकार करते है, वे उन स्वार्थियों से अच्छे है जो दिन रात अपने ही लिये हाय हाय करते रहते हैं। संसार के लोग भले ही दुःखी हों पर मेरा अभीष्ट सिद्ध हो इस प्रकार की स्वार्थता वडी ही निन्द्य और त्याज्य है।

१७–कोई एक ऐसा स्वार्थ है जिससे तुम लाभ उठा रहे हो और हजारों की हानी हो रही है, वहाँ तुम्हें स्वार्थ त्याग देना ही समुचित है। वह सुख किस काम का जो हजारों के मन में दुःख पहुँचा कर प्राप्त हो। जिनका हृदय उच्च है, जो सब के साथ उच्च प्रेम रखते हैं, वे वैसा ही काम करते हैं जिससे हजारों क्या लाखों मनुष्य सुख पाते हैं।

१८–जिनके हृदय में प्रेम और दया नहीं उनके मुँह से प्रायः मधुर वचन नहीं निकलता। प्रेम और दया ही मधुर वाणी का उत्पत्ति स्थान है। जो लोग प्रेमिक और दयालु हैं वे बहुधा मिष्टभाषी ही होते हैं।

१९–जिनकी अवस्था ऐसी नहीं है जो किसी का विशेष उपकार कर सकें, उन्हें इतना तो अवश्य चाहिये कि–दो चार मीठी बातें बोलकर ही दूसरे को आप्यायित (आनन्दित) करें।

२०–यदि सच्चा सुख पाने की इच्छा हो, यदि दूसरे के मनोमन्दिर में विहार करना चाहते हो और सारे संसार को अपना बनाया चाहते हो तो अभिमान को छोड़ कर मिलनशील हो मीठी बात

बोलने का अभ्यास करो। मनुष्यों के लिये मधुर-भाषण एक वह प्रधान गुण है कि–जिससे संसार के सभी लोग सन्तुष्ट हो सकते हैं, अतएव मनुष्य मात्र को प्रियभाषी होने का प्रयत्न करना चाहिये।

२१–अच्छे मनुष्य नम्रता से ही ऊँचे होते हैं, दूसरे मनुष्यो के गुणों की प्रसिद्धि से अपने गुण प्रसिद्ध करते हैं, दूसरों के कार्यों की सिद्धि करने से अपने कार्यों को सिद्ध करते हैं और कुवाक्यों से बुराई करनेवाले दुर्जनों को अपनी क्षमा ही से दूषित करते है, ऐसे आश्चर्ययुक्त कामोंके करने वाले महात्माओं का संसार मे सब आदर किया करते हैं।

२२–दुःखियों की आह सुनकर यदि तुम हँसोगे, और दीन हीन अनाथों की आँखों के आँसू न पोंछ कर घृणा के साथ उनकी उपेक्षा करोगे, तो इस संसार में तुम्हारे आँसू पोंछने कौन आवेगा, और संकट में कौन तुम्हारी सहायता करेगा ?

२३–मनुष्य को चाहिये कि वह किसी से कठोर बात न कहे और न अपराधी को सख्त सजा दे। जिस मनुष्य से दूसरे प्राणी मृत्यु के

समान डरते रहते हैं उस को भी अपनी कुशल न समझना चाहिये। उसे भी जरूर किसी समय दूसरे से डर लगेगा और वह ऐहिक और पारलौकिक यश प्राप्त नहीं कर सकेगा।

२४—जो यह चाहता है कि मैं बहुत दिन तक जीवित रहूँ उसको चाहिये कि वह किसी प्राणी को न कभी खुद मारे और न दूसरे मनुष्य को मारने की आज्ञा दे। इसी तरह जो अपने लिये जिस जिस बात को अच्छी समझकर चाहता हो उसे वही बात दूसरे के लिये भी अच्छी समझनी चाहिये और दूसरे के हित के लिये भी उसे वैसा ही प्रयत्न करना चाहिये।

२५—जो काम अपने लिये अप्रिय है वही काम दूसरे को भी अप्रिय लगेगा। दूसरे मनुष्य के किये हुए जिस काम का हम अपने लिये बुरा समझते हैं वही काम दूसरे को भी बुरा लगेगा। इस लिये हमको भी वह बुरा काम दूसरे के लिये कभी न करना चाहिये।

२६—तृष्णा को अलग करो, क्षमा करने वाले बनो, घमंड को पास न आने दो, पाप के कामों

मे प्रीति न करो, सदा सत्य बोलो, अच्छे मनुष्यों के मार्ग पर चलो, विद्वानों की सोबत करो, शिष्ट पुरुषों का सत्कार करो, दुखियों पर दया रक्खो, गुणानुरागी और सरलस्वभावी बनो; ये अच्छे मनुष्यों के लक्षण हैं।

२७–परम पुरुषार्थ करने में जिन्हे लोभ हो रहा है, धन और संसार के विषयों मे जो तृप्त हो चुके हे और जो सत्य–मधुर बोलने और अपनी इन्द्रियों को वश करने में ही धर्म समझते हैं; वे मनुष्य अमत्सरी और निष्कपट होते हैं। जिन साधनों के लिये लोग छल–कपट किया करते हैं उन की उन्हें आवश्यकता ही नहीं होती।

२८–जो मनुष्य ज्ञान से तृप्त होता है उसको किसी सुख के मिलने की कभी इच्छा नहीं होती। वह तो अपने ज्ञानरूपी सुख को ही सदा सुख समझता है और उसीसे सन्तुष्ट और तृप्त रहता है। वह अपने ज्ञान से अपने को अशोचनीय समझता है और शोक करते हुए या संसार के जाल मे फसे हुए मनुष्यों को शोचनीय समझता है।

२९–लक्ष्य–हीनता और निर्बलता का त्याग

करने से और एक विशेष उद्देश्य को स्थिर कर लेने से मनुष्य उन श्रेष्ट पुरुषों के पद को प्राप्त करता है जो अपनी असफलताओं को सफलता की सीढ़ी बनाते हैं, जो प्रत्येक बाह्यावस्थाओं को अपना दास बना लेते हैं, जो दृढ़ता से विचार करते हैं, निर्भय होकर यत्न करते हैं, और विजयी की भांति कदम बढ़ाते हैं।

३०–सावधानी और धैर्यपूर्वक अभ्यास करने से शारीरिक निर्बलता वाला मनुष्य अपने को बलवान् कर सकता है और निर्बल विचारों का मनुष्य ठीक विचार करने के अभ्यास से अपने विचारों को सबल बना सकता है।

३१–जिसे साधारण उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करनी है उसे साधारण स्वार्थों का ही त्याग करना होगा और जिसे महान् उद्देश्यों में सफलता प्राप्त करनी है उसे महान् स्वार्थों का त्याग करना होगा जितना ऊँचा चढना है उतनी ही ऊँची सीढ़ी की आवश्यकता है, और जितनी उन्नाति करनी है उतना ही निःस्वार्थी बनना होगा।

३२–नम्रता और क्षमा के विचारों से मनुष्य

नम्र और दयावान् वन जाता है जिससे उसकी वाह्यावस्थाएँ उसकी रक्षक और पोपक वन जाती है। प्रेम और नि.स्वार्थता के विचारों से मनुष्य दूसरों के लिये अपने को विस्मरण कर देता है जिससे उसकी वाह्यावस्थाएँ ऋद्धि और सच्चे धनकी उत्पादक हो जाती हैं।

३३–प्रकृति प्रत्येक मनुष्य को उसकी उन इच्छाओं की पूर्ति में सहायता देती है जिसको वह अपने अन्तःकरण में सब से अधिक उत्साहित करता है, और ऐसे अवसर मिलते है जो शीघ्र ही उसके भले, या बुरे विचारो को संसार में सम्मुख उपस्थित करते है।

३४–जब मनुष्य धन को चाहता है तो उसको कितना आत्म-संयम और परिश्रम करना पड़ता है ? तो विचारना चाहिये कि उस मनुष्य को कितना अधिक आत्मसयम करना पड़ेगा जो दृढ़, शान्त और ज्ञानमय जीवन की इच्छा रखता है।

३५–विचार जो निर्भयता के साथ उद्देश्य से जोडे जाते हैं, वडी भारी उत्पादक शक्ति रखते हैं। वह मनुष्य जो इस वात को जानता है शीघ्र ही वलवान्, श्रेष्ठ और यशस्वी हो जाता है। वह फिर

चञ्चल विचार वाला, अस्थिर आवेश और मिथ्यासंकल्प विकल्पों का पुतला नहीं रहता, वह मनुष्य जो इस भांति उद्देश्य को पकड़ लेता है अपनी आत्मिक शक्तियों का जाननेवाला स्वामी वन जाता है और उन शक्तियों को अन्य कामों में भी ला सकता है।

३६—कुसंप के बीज वोनेवाले को आखिर पश्चात्ताप का समय आता है अतएव क्षुद्रातिक्षुद्र जन्तु के साथ भी वैर न रखना चाहिये। क्योंकि किसी समय क्षुद्रजन्तु भी महान् पुरुषों के विनाश का कारण बन जाता है।

३७—सद्गुणों में अति आवश्यक गुण निराभिमान और नम्रता है। अतिनम्र मनुष्य दूसरों की की हुई भूल के लिये स्वयं प्रसन्न न होकर अत्यन्त दिलगीर होगा और अभिमानी की बजाय निरभिमानी मनुष्य दुःखों को अधिक धैर्य से सहन कर सकेगा।

३८—हम कहाँ से आये ?, हमे कहाँ जाना हे ? और हमारे कृतकर्मों का हिसाब किसके पास देने का है ?; इन तीन बातों का खूब बारीकी से

मनन किया जायगा तो पाप–कीचड में फॅसने का टाइम कभी न आवेगा।

३९–मनुष्य वाह्य अस्पर्श्य वस्तुओं से अभड़ाता नहीं है. परन्तु दुष्ट विचार, खून, व्यभिचार, वलात्कार, चोरी, खोटी साक्षी और परनिन्दा से अभड़ाता है।

४०–सत्य के लिये भूख–तृपा सहन करनेवाला, महान् कष्ट उठानेवाला, मनुष्य ही भाग्यवान् और नशीवदार है, वही वास्तविक सत्य के प्रभाव से एक दिन परमात्मा का रूप धारण कर संसार का भला करता है।

४१--किसीका खून न करो, व्यभिचार से दूर रहो, खोटी साक्षी कभी न भरो, और दुष्ट लोगों की संगति से वचते रहो। यही उंचे शिखर पर चढने का असली रास्ता है और इसी रास्ते पर चलनेवाले को लोग परमात्मा मानते हैं।



जो मनुष्य उक्त शिक्षाओं को मनन करके अपने हृदय में धारण करता हे अथवा इन गुणों के जो धारक हे उन पर अनुराग रखता है उसे ग्रन्थकार के कथनानुसार 'श्रीसोमसुन्दरपद' अर्थात् तीर्थङ्कर

पद प्राप्त होता है। तीर्थङ्करों की क्षमा और मैत्री सर्वोत्कृष्ट होती है, उनकी हार्दिक भावना सब जीवों को शासन-रसिक बनाने की रहती है, उनके उपदेश में निष्पक्षपात और सद्गुणों का मुख्य सिद्धान्त रहता है। शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि—

सव्वं नाणुन्नायं, सव्वनिसेहो य पवयणे नत्थि।
आयं वयं तुलिज्जा, लाहाकंखि व्व वाणिआ॥ १॥

भावार्थ—तीर्थङ्करों के प्रवचन में सर्व बात का निषेध अथवा आज्ञा नहीं है किन्तु लाभाकांक्षी वणिक की तरह लाभ और अलाभ की तुलना करे ऐसी आज्ञा है। अर्थात् जिस प्रकार वणिक लाभाऽलाभ विचार कर, जिसमें अधिक लाभ जान पड़ता है उसमें प्रवृत्ति करता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यों को हर एक कार्य करते समय लाभाऽलाभ का विचार कर लेना चाहिये, ऐसी तीर्थङ्कर-प्रवचन की आज्ञा है।

तीर्थङ्करों का कथन राजा और रंक, मित्र और शत्रु, सब के लिये समानरूप से आदरणीय होता है। क्योंकि—जहाँ सत्य, न्याय और दया का सिद्धान्त मुख्य है और जिसमें राग द्वेष और स्वार्थ

पोपण नहीं है उसके उपदेश और कथन का कौन अनादर कर सकता है?, तीर्थङ्करों का उपदेश और सिद्धान्त प्रमाण तथा नयों से अबाधित, और स्याद्वाद से शोभित है अतएव वह सर्वमान्य होता है। इसीसे गुणानुरागधारियों के लिये तीर्थङ्करपद प्राप्ती-रूप फल बतलाया गया है।

महानुभावो! यदि जीवन को सुखमय बनाना हो, अनन्त अनुत्तर और निरावरण कैवल्य ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को प्राप्त करना हो, भूमडल में आदर्श और पूज्यपद की चाहना हो तो गुणानुराग धारण करो। ईर्ष्या, द्वेष और कलह को अपनी आत्मा में स्थान मत दो, दोपदृष्टि का परित्याग करो और मैत्रीभाव से सब के साथ वर्त्ताव रक्खो।

ससार के सब भोग और विभव नष्ट होने वाले हैं, इन्हीं भोग और विभव की आशाओं से जन्म मरण के चक्र मे घूमना पडता है। आयुष्य, युवावस्था और चचल लक्ष्मी देखते देखते विलय हो जाती है, ससार में जो मिली हुई सामग्री है वह सब दु:खद है, और सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं, ऐसा समझकर अपने मन को शुभयोगों के तरफ लगाओ

और भलाई, गुणसंग्रह और हितकारक कार्यों में प्रयत्न करना सीखो। काम, क्रोध आदि शत्रुओं से अलग होकर आत्मीय-प्रेम में मन लगाओ जिस से अविनाशी यश और सुख मिलेगा। यह मनुष्य जीवन किसी बड़े भारी पुन्ययोग से मिला है, अतएव जो कुछ प्रशस्य शुभकार्य कर लोगे वही साथ रहेगा।



वह्न्यब्धिनन्देन्दु-मिते शुभेऽब्दे,
पौषे रवौ सिन्धुतिथौ यतीन्द्रैः।
गुणानुरागस्य विवेचनोऽयं,
भूयात् कृतः साधुजनस्य प्रीत्यै ॥१॥

